M-1574

राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, नई दिल्ली—27 द्वारा प्राप्त अनुदान से प्रकाशित—

म० म० इन्द्रपतिकृतः

अलङ्कारसमुद्गः

(हिन्दी अनुवाद सहित)

अनुवादकः

डॉ० शशिनाथ झा, विद्यावाचस्पतिः

सम्पादकः

डॉ० प्रमोद झा

ग्रा०+पत्रा०—दीपः, मधुवनी (विहार)

प्रथमं संस्करणम्— 1000 प्रति

प्रकाशनवर्षम्— 1995

मूल्यम् —[redacted]/-

प्रकाशकः—

डॉ० शशिनाथ झा

ग्रामः पत्रालयश्च–दीपः, मधुवनी (विहारः)

ALANKAR–SAMUDGA

by M. M. Indrapati Upadhyay

(With Hindi Commentry by Dr. Shashi Nath Jha)

Edited by Dr. Pramoda Jha

Village+P.O.–Deep, Madhubani (Bihar.)

मुद्रक—रमण प्रेस, बंगलागढ़, दरभंगा ।

M-1574
M-1574

अलंकारसमुद्ग

पुण्यस्मृति में समर्पित

महावैयाकरण पं० दीनबन्धु झा

(१८७८–१९५५ ई०)

प्राक्कथन

अलंकारों की विवेचना दो सहस्राब्दी पुरानी है। आचार्य भरत से लेकर आज तक सैकड़ों आचार्य अलंकारों के लक्षण एवं उदाहरण रचते आ रहे हैं। इसका परिनिष्ठत रूप हमें काव्यप्रकाश में मिलता है। वस्तुतः काव्यप्रकाश इस शास्त्र का आकर ग्रन्थ है। इसकी प्रामाणिकता एवं विद्वत्प्रियता सर्वाधिक है। इस पर सर्वाधिक टीकाएँ मिलती हैं। इसे ही आधार बनाकर म० म० गोविन्द ठक्कुर ने काव्यप्रदीप की रचना की। उन्होंने कारिका एवं उदाहरण काव्यप्रकाश की ही ली, केवल वृत्ति नहीं ली। यद्यपि वे अलंकारों के लक्षणों को वृत्ति द्वारा परिष्कृत करते हैं, तथापि कारिका रूप में न रहने के कारण उन्हें मूलग्रन्थ की मायन्ता प्राप्त नहीं हो सकी।

अठारहवीं शती के मध्यभाग में म० म० इन्द्रपति उपाध्याय (मिथिला निवासी) ने अलंकारों का बारीकी से विवेचन किया। यद्यपि ये भी काव्य-प्रकाश के अनुगामी हैं, फिर भी अलंकारों के परिष्कृत लक्षणों को कारिका में बान्धकर प्रस्तुत करने से इनकी मौलिकता स्पष्ट है। प्रायः यहाँ सभी उदाहरण काव्यप्रकाश के ही हैं। ये एक अच्छे मीमांसक थे। अतः इनका लक्षण नपा-तुला एवं ठोस है। इनके ग्रन्थ का नाम है— अलंकारसमुद्ग। यह ग्रन्थ अभी तक अप्रकाशित एवं अचर्चित था। इसकी एक ही खण्डित पाण्डुलिपि प्राप्त हुई, जिसके आधार पर डॉ० प्रमोद झा ने इसका सम्पादन किया है, समीक्षा की है तथा मैंने हिन्दी व्याख्या देकर इसे उपयोगी बनाने की चेष्टा की है। इसके प्रकाशन हेतु अनुदान देकर राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, नई दिल्ली ने हमें उत्साहित किया है।

हमारे इस प्रयास से काव्यशास्त्र के अनुरागी जन लाभान्वित होंगे, यही आशा है।

स्नातकोत्तर व्याकरण-भाषाविज्ञानविभाग
का०सि०द० संस्कृत विश्वविद्यालय, दरभंगा
१ – ११ – १९९५

डॉ० शशिनाथ झा
विद्यावाचस्पति

विषय - क्रमः

विषयः	पृष्ठम्
प्राक्कथनम्	I
भूमिका	[१ - ६५]
१ साहित्य शास्त्र में अलंकारों की परम्परा	[१]
२ अलंकारशास्त्र के प्रमुख आचार्य	[६]
३ अलंकारों का विकास	[२५]
४ अलंकारशास्त्र में अलंकार समुद्ग का स्थान	[२६]
५ म० म० इन्द्रपति का परिचय	[३०]
६ म० म० इन्द्रपति की वंशावली	[३७]
७ अलंकार समुद्ग के विषय	[३८]
८ अलंकार के लक्षणों की तुलना	[४०]
९ इन्द्रपति एवं चन्द्रालोककार जयदेव	[५७]
१० इन्द्रपति एवं अलंकारमञ्जरीकार वेणीदत्त	[५६]
११ इन्द्रपति एवं कुवलयानन्द	[६४]
१२ आभार प्रदर्शन	]६५]
अलंकारसमुद्गः (मूलग्रन्थो हिन्दीव्याख्या-सहितः)	१ - १२८
१ मङ्गलाचरणं गणेशवन्दना	१
२ ग्रन्थप्रवृत्त्युद्देश्यप्रदर्शनम्	१
शब्दालङ्कार समुच्चयः	२ - ३६
१ वक्रोक्तिः	२
क) अभङ्गश्लेषमूला, ख) सभङ्गश्लेषमूला, ग) काकुमूला ।	

विषय पृष्ठम्

२ अनुप्रासः ४
(१) वर्णानुप्रासः
क) छेकानुप्रासः, ख) वृत्त्यनुप्रासः। ६
वृत्तिविचारः
क) उपनागरिका, ख) परुषा, ग) कोमला। ६
(२) लाटानुप्रासः (पदानुप्रासः)
क) सविभक्तिकानेकपदावृत्तिः, ख) सविभक्तिकैकपदावृत्तिः,
ग) नाम्न आवृत्तिः। १२
३ यमकम्
क) मुखयमकम्, ख) सन्देहः, ग) वृत्तियमकम्, घ) गर्भयमकम्,
ङ) सन्दष्टकः, च) पुच्छः, छ) पङ्क्तिः, ज) युग्मकम्,
झ) परिवृत्तिः, ञ) समुद्गः ट) अयुग्मकम् (महायमकम्)
ठ) पादभागवृत्ति - मुखादियमकम्। २०
४ श्लेषः
क) वर्णश्लेष, ख) पदश्लेष, ग) लिङ्गश्लेष' घ) वचनश्लेष,
ङ) भाषाश्लेष, च) प्रकृतिश्लेष, छ) प्रत्ययश्लेष, ज) विभक्तिश्लेष
(i) अभङ्ग, (ii) सभङ्ग।
श्लेषस्य शब्दालङ्कारता अर्थालङ्कारता वेति विवेचनम्। ३३
अर्थश्लेषविचारः ३५
५ पुनरुक्तवदाभासः
क) सभङ्गः, ख) अभङ्गः। ३७ - १२८
अर्थालङ्कारसमुच्चयः ३७
अर्थालङ्काराणां विवेचनीयानां परिगणनम् ३८
१ उपमा
१) पूर्णोपमा— क) श्रौती वाक्यगा, ख) श्रौतो समासगा
ग) श्रौती तद्धितगा, घ) आर्थी वाक्यगा ङ) आर्थी समासगा, ३९
च) आर्थी तद्धितगा

पृष्ठम्

विषयः

२ लुप्तोपमा – i) क) धर्म लुप्ता वाक्यगा श्रौती, ख) धर्मलुप्ता समासगा श्रौती, ग) धर्मलुप्ता वाक्यगा आर्थी, घ) धर्मलुप्ता समासगा आर्थी, ङ) धर्मलुप्ता तद्धितगा आर्थी ४६

ii) उपमानलुप्ता— क) वाक्यगा आर्थी, ख) समासगा आर्थी।

iii) वाचकलुप्ता – क) समासगा आर्थी, ख) कर्मक्यचि,
ग) आधारक्यचि, घ) कर्त्तृक्यङि, ङ) कर्मणमुलि,
च) कर्त्तृणमुलि।

iv) धर्मवाचकोभयलुप्ता क) क्ववगता, ख) समासगा।

v) धर्मोपमानोभयलुप्ता – क) वाक्यगा, ख) समासगा।

vi) धर्मोपमानवाचकलुप्ता—

vii) वाचकोपमेयोभयलुप्ता— ५८

३ मालोपमा क) अभिन्न साधारणधर्मा, ख) भिन्नसाधारणधर्मा ६०

४ रसनोपमा · क) साधर्म्याभेदे, ख) साधर्म्यभेदे ६२

२ अनन्वयः ६३

३ उपमेयोपमा ६४

४ उत्प्रेक्षा
क) धर्मकोटिका (हेतूत्प्रेक्षा), ख) स्वरूपकोटिका। ६६

५ सन्देहः
क) निश्चयगर्भ, ख) निश्चयान्त ग) अभेदोक्तिसहित। ६८

६ रूपकम्
क) समस्तवस्तुविषयसाङ्ग, ख) एकदेशविवर्त्तिसाङ्ग,
ग) अमाला (शुद्ध) निरङ्ग, घ) माला निरङ्ग, ङ) श्लिष्ट-मालारूप परम्परित, च) अश्लिष्टमालारूप परम्परित,
छ) श्लिष्ट अमलारूप परम्परित, ज) अश्लिष्ट अमालारूप परम्परित।

विषयः पृष्ठम्

७ अपह्नुतिः ७९
क) शाब्दी, ख) आर्थी, ग) श्लिष्ट छेकापह्नुति, घ) अश्लिष्ट छेकापह्नुति ।

८ श्लेषः ८३

९ समासोक्तिः ८४
१. कार्यसाम्यगता, २. लिङ्गसाम्यगता ३. विशेषणसाम्यगता—क) श्लिष्टा, ख) अश्लिष्टा, ग) औपम्यगर्भा ।

१० निदर्शना ८९
१. असंभावितोपमाकल्पका– क) वाक्यार्थद्वयगा, ख) पदार्थद्वयगा, २) निदर्शनामाला, क) सम्भावितोपमाकल्पका, ३) दृष्टान्तगा ।

११ अप्रस्तुतप्रशंसा ९३
१) कार्ये, २) कारणे, ३) सामान्ये, ४) विशेषे, ५) तुल्ये—क] विशेषणविशेष्यवाचिपदश्लेषमाला, ख] प्रतीयमानार्थानध्यारोपश्लेषमूला, ग] अश्लिष्टा, घ] प्रतीयमानार्थाध्यारोपमूला, च] आरोपानारोपमूला ।

१२ अतिशयोक्तिः १०६
क] प्रथमा ख] द्वितीया ग] तृतीया घ] चतुर्थी ।

१३ प्रतिवस्तूपमा ११०
क] माला, ख] अमाला ।

१४ दृष्टान्तः ११२
क] साधर्म्यमूलकः, ख] वैधर्म्यमूलकः ।

१५ दीपकम् ११५
क] क्रियादीपकम् ख] कारकदीपकम्, ग] मालादीपकम् ।

१६ तुल्ययोगिता ११९
क] प्रस्तुतधर्मगता, ख] अप्रस्तुतधर्मगता ।

विषयः पृष्ठम्

१७ व्यतिरेकः— १२१

(१) हेतूक्तिसहितः— क) शाब्दः श्लिष्टः ख) आर्थः श्लिष्टः
ग) आक्षिप्तः श्लिष्टः घ) शाब्दोऽश्लिष्टः ञ) आर्थोऽश्लिष्टः
च) आक्षिप्तोऽश्लिष्टः।

(२) हेत्वनुक्तियुतः— क) शाब्दः श्लिष्टः, ख) आर्थः अश्लिष्टः,
ग) आक्षिप्तः श्लिष्टः, घ) शाब्दः अश्लिष्टः, ङ) आर्थः अश्लिष्टः,
च) आक्षिप्तः अश्लिष्टः।

(३) उपमानोत्कर्षस्थले व्यतिरेकालङ्कारत्वविचारः। १२६

अलंकार समुद्ग - परिशिष्टम् — (१)
(वेणीदत्तकृता अलङ्कारमञ्जरी आक्षेपालङ्कारतः समाप्ति यावत्)
१२६–१६१

१८ आक्षेपः १२६
१९ विभावना १३०
२० विशेषोक्तिः १३०
२१ यथासंख्यम् १३१
२२ अर्थान्तरन्यासः १३२
२३ विरोधाभासः १३३
२४ स्वभावोक्तिः १३४
२५ व्याजस्तुतिः १३४
२६ सहोक्तिः १३६
२७ विनोक्तिः १३६
२८ परिवृत्तिः १३७
२९ प्रहर्षणः १३७
३० भाविकम् १३८
३१ काव्यलिङ्गम् १३९
३२ पर्यायोक्तम् १३९
३३ उदात्तः १४०
३४ समुच्चयः १४०
३५ पर्यायः १४१
३६ अनुमानम् १४२

विषयः		पृष्ठम्
३७	परिकरः	१४३
३८	व्याजोक्तिः	१४३
३९	परिसंख्या	१४४
४०	अन्योन्यः	१४५
४१	उत्तरम्	१४५
४२	सूक्ष्मः	१४६
४३	सारः	१४६
४४	असंगतिः	१४७
४५	समाधिः	१४७
४६	समः	१४८
४७	विषमः	१४९
४८	विचित्रम्	१५०
४९	अधिकम्	१५१
५०	प्रत्यनीकम्	१५२
५१	मीलितम्	१५३
५२	एकावली	१५३
५३	स्मृतिः	१५४
५४	भ्रान्तिमान्	१५५
५५	प्रतीपः	१५५
५६	सामान्यम्	१५६
५७	विशेषः	१५७
५८	तद्गुणः	१५८
५९	अतद्गुणः	१५८
६०	व्याघातः	१५९
६१	संसृष्टिः	१५९
६२	संकरः	१६०
	परिशिष्टम् — (२)	
६३	अलंकारसमुद्ग में चर्चित ग्रन्थ एवं ग्रन्थकार–	१६२

भूमिका

१. साहित्यशास्त्र में अलंकारों की परम्परा :-

काव्य में शोभा बढ़ाने[1] वाले तत्त्व को अलंकार कहते हैं। साहित्यशास्त्र में अलंकारतत्त्व उतना ही प्राचीन है, जितना कि यह शास्त्र है। इस शास्त्र के सर्वप्राचीन उपलब्ध ग्रन्थ भरतमुनिकृत नाट्यशास्त्र (ई० पू० २००) में चार अलंकार का लक्षण मिलता है। उनके परवर्ती सभी आचार्यों ने अलंकार को एक प्रमुख काव्यतत्त्व माना है और अलंकारों की संख्या उत्तरोत्तर बढ़ती हुई मिलती है।

काव्यशास्त्र के प्राचीन आचार्य तो अलंकार को ही सर्वप्रधान तत्त्व मानते थे और अलंकार के रहने पर ही काव्य को ग्राह्य कहते थे[2]। इसी कारण उन्होंने इस शास्त्र का नाम ही अलंकारशास्त्र रख दिया। अतएव काव्यशास्त्र के अधिकांश ग्रन्थों के नाम अलंकार शब्द पर ही मिलते हैं :—

काव्यालंकार— भामह, रुद्रट, वाग्भट, काव्यालंकारसारसंग्रह—उद्भट, काव्यालंकारसूत्रवृत्ति—वामन, अलंकारसर्वस्व—रुय्यक, अलंकाररत्नाकर—शोभाकर मित्र, अलंकारसंग्रह—अमृतानन्द योगी, अलंकारकौस्तुभ—कर्णपूर, विश्वेश्वर पण्डित।

इन आचार्यों ने अलंकार को सर्वप्रमुख तत्त्व मानते हुए "प्रधानेन व्यपदेशा भवन्ति" इस न्याय के आधार पर इस शास्त्र का नाम अलंकारशास्त्र[3] रखा, जब कि इस शास्त्र में अलंकार के साथ-साथ गुण, रीति, रस आदि सभी तत्त्व वर्णित हैं। आचार्य वामन तो अलंकार को सौन्दर्य का पर्यायवाची मानकर इसे अतिशय व्यापक बना दिया[4]। तब अलंकार शब्द काव्यशास्त्रीय सभी तत्त्वों को अपने में समेट लेता है। अतः काव्यसौन्दर्य

---

१ काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलङ्कारान् प्रचक्षते—काव्यादर्श—२, १।

२ काव्यं ग्राह्यमलंकारात्—वामनः—१, १, १।

३ अलंकारप्रकाश—अवतरणिका—पृ० १०।

४ सौन्दर्यमलंकारः—वामनः—१, १, २।

के विधायक सभी तत्त्वों के विवेचन करनेवाले शास्त्र को अलंकारशास्त्र या काव्यशास्त्र कहा जाता है।

इसी शास्त्र के अर्थ में साहित्यशास्त्र शब्द का भी व्यवहार होता है। राजशेखर ने इसे साहित्यविद्या[५] कहा है। 'सहितस्य भावः साहित्यम्' इस व्युत्पत्ति के अनुसार शब्द और अर्थ के मञ्जुल सहभाव को साहित्य कहते हैं[६]। इसमें शब्द और अर्थ के साहित्य का अर्थ उन दोनों का परस्पर मनोरम उपस्थापन है। अर्थात् शब्द के अनुरूप अर्थ और अर्थ के अनुरूप शब्द चमत्कार उत्पन्न करते हों, दोनों का सन्तुलन हो, न्यूनाधिक चमत्कार नहीं। भामह ने[७] तो "शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्" के द्वारा साहित्य शब्द का संकेत दे दिया है, जब कि आचार्य कुन्तक ने स्पष्ट ही साहित्य शब्द का उल्लेख कर दिया है :—

"साहित्यमनयोः शोभाशालितां प्रति काप्यसौ।
अन्यूनानतिरिक्तत्वं　　मनोहारिण्यवस्थितिः ॥

(वक्रोक्तिजीवित—१, १०)

इसी शब्दार्थ के सन्तुलित सहभाव के चमत्कार को ही इस विद्या का मूल मानकर कतिपय आचार्यों ने साहित्य शब्दयुक्त ही नाम रखा हैं। जैसे—साहित्यदर्पण—विश्वनाथ, साहित्यविलास—शंकर मिश्र, साहित्यसार—अच्युतराय, साहित्यमीमांसा—मुकुलभट्ट एवं कविशेखर बदरीनाथझा।

वामन ने सौन्दर्य को अलंकार कहा है। इस संसार में सौन्दर्य के प्रति सबों का आकर्षण सर्वविदित ही है। 'सत्यं, शिवं और सुन्दरम्' में चरम तत्त्व सुन्दरम् ही है। शिव और सुन्दर का जब सत्य के साथ संयोग होता है तभी जगत् में मंगल का उदय होता है[८]। काव्यजगत् में भी मञ्जुल शब्द और मंगलमय अर्थ का परस्पर सुन्दर समन्वय होने पर ही रमणीयता आती है और काव्यत्व विराजमान हो जाता है।

---

६ काव्यमीमांसा—पृ०—४।
७ वक्रोक्तिजीवितम्—१, ६।
८ अलंकारप्रकाश—पृ० 1।

इस सौन्दर्य के आधायक अलंकार का स्थान काव्य में क्या है, इस विषय में विभिन्न आचार्यों के विभिन्न मत हैं। आचार्य भरत[९] अलंकार के महत्त्व को स्वीकार करते हुए भी काव्य में इसकी अनिवार्यता नहीं मानते हैं। उन्होंने रस, भाव आदि को ही काव्य या नाट्य में आत्मभूत माना है।

उनके बाद के आचार्यों ने अलंकार सम्प्रदाय चलाया। अर्थात् ये अलंकार को ही काव्य की आत्मा मानने लगे। यह क्रम ध्वनिकार आनन्दवर्धन के समय से पूर्व तक चलता रहा। इन आचार्यों में भामह, दण्डी, वाग्भट, रुद्रट आदि मुख्य हैं। इनके अनुसार अनलंकृत काव्य शोभास्पद नहीं होता, जैसा कि वनिता का सुन्दर मुख भी अलंकाररहित होने पर शोभित नही होता है[१०]। ये आचार्य गुण, रस, भाव आदि को भी अलंकार के अन्तर्गत मानते थे। भामह ने भरतमुनि के काव्यात्मरूप रसभावादि को रसवत्, प्रेय, ऊर्जस्वी अलंकारों में समाविष्ट[११] कर ली है। उनके मत में काव्यशोभाकारक सभी धर्म अलंकार के अन्तर्गत आ जाते हैं। उद्भट के द्वारा तो समस्त रसप्रपंच को रसवदादि अलंकारों में सन्निविष्ट कर लिया गया है। तदनुसार तो अलंकार काव्य के सकल तत्त्वों का एकमात्र प्रतिपादक हो जाता है[१२] और अपने व्यापक रूप को प्रकाशित करता है[१३]। आचार्य रुद्रट ने भी काव्य में अलंकार को अंगी कहकर रसादि को उससे भिन्न माना है। उनके अनुसार भाव-अलंकार में प्रतीयमान अर्थ का ग्रहण हो जाता है। अग्निपुराणकार महर्षि व्यास ने अलंकार के बिना काव्य को विधवा नारी के तुल्य श्रीविहीन कहकर अलंकारों को अतिशय महत्त्व दिया है[१४]।

---

९ जयदेवः आचार्य एवं नाटककार के रूप में—पृ० ६१।

१० 'न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनिताननम्'–भामह–१, १३।

११ काव्यालंकार—३, १।

१२ काव्यालंकारसारसंग्रह—४, २-७।

१३ काव्यालंकार–रुद्रट—७, ३८–४१।

१४ अग्निपुराण—३४२, १७।

आचार्य वामन यद्यपि 'रीति' को ही काव्य की आत्मा मानते हैं तथापि उन्होंने सौन्दर्यरूप अलंकार के विना काव्य को अग्राह्य कहा है[१५]। इस प्रकार वे भी अलंकार को काव्य के अनिवार्य तत्त्व मानते हैं। भोजराज ने अपने सरस्वतीकण्ठाभरणालङ्कार में कहा है कि जैसे उपमादि अलंकार काव्य-शोभाधायक होने से अलंकारपदवाच्य होते हैं उसी तरह गुण, रीति, रस, भाव आदि भी काव्यशोभाकारक होने से ही अलंकार कहाने के अधिकारी हैं :—

"तत्र अलंकार-संसृष्टेः इत्येव वक्तव्ये नानालंकारग्रहणं गुणरसानामुप-संग्रहार्थम्। तेषामपि हि काव्यशोभाकरत्वेन अलंकारत्वात्"।

(सरस्वतीकण्ठाभरण–१, १९ पर वृत्ति)।

इधर ध्वनिसम्प्रदाय के उदय होने पर अलंकार का महत्त्व बने रहने के बावजूद उसका स्थान बदल गया। ध्वन्यालोककार आचार्य आनन्दवर्धन ने रस को अङ्गी मान कर अलंकारों को अगरूप में स्वीकार किया है। उनके अनुयायीगण अभिनवगुप्त, मम्मटभट्ट, विश्वनाथ, केशवमिश्र आदि ने अलंकार को रसादिध्वनि के अंगरूप में ही मान्यता दी थी। तदनुसार अलंकार रसादि के अंगरूप में ही वर्णित हुए, न कि अंगीरूप में[१७]। अतः ये आचार्य लोग अलंकार के लक्षण को ही परिवर्त्तित करते हुए नवीन सिद्धान्त चलाना ही उचित समझने लगे। अब अलंकार का लक्षण 'काव्यशोभाकर-धर्म' न रहकर 'शब्दार्थयोः अस्थिराः शोभातिशायिनो धर्माः' (शब्द और अर्थ के शोभातिशयकारक अस्थिर धर्म) ही[१६] माना जाने लगा। ध्वनिकार से पहले अलंकार शोभाकारक थे जबकि उनके बाद शोभावर्धकमात्र रह गये। उनसे पहले गुण भी अलंकार के ही अंग माने जाते थे, पर अब वे अंगी रसके आश्रित होकर नित्यधर्म होने के कारण अलंकार से उच्च पद पर विराजने लगे। अलंकार तो अंगी के अंग गुणादि पर आश्रित होने से एवं अनित्य होने से अप्रधान हो गये। अब रसादि के उत्कर्षाधायक होने से ही अलंकार

१५ काव्यालंकारसूत्रवृत्ति - १, १, १–२।

१६ "विवक्षा तत्परत्वेन नाङ्गित्वेन कदाचन"– ध्वन्यालोक-२, १९।

१७ काव्यप्रकाशः—-९, १।

का महत्त्व माना जाने लगा। परवर्त्ती आचार्यों में इसी मत का प्रचलन हुआ और ध्वनिवादी आचार्य आजतक इसी को सिद्धान्त मानते हैं। आचार्य राजशेखर, हेमचन्द्र, विश्वनाथ, विद्याधर, केशवमिश्र, भानुदत्त मिश्र, अप्पय दीक्षित, पण्डितराज जगन्नाथ, विश्वेश्वर पण्डित आदि आचार्य इसी रूप में अलंकार की महत्ता स्वीकारते हैं[१८]।

इधर ध्वनिपरवर्त्ती कुछ आचार्य ऐसे भी हैं जिन्होंने रस को काव्य की आत्मा मानते हुए भी अलंकार को काव्य का अनिवार्य अंग माना। इनमें वाग्भट प्रथम ने भामह के सिद्धान्त को प्रतिपादित किया। उन्होंने अलंकारहीन काव्य को विधवा नारी की उपमा[१९] दी है। उनके बाद चन्द्रालोककार जयदेव ने भी अलंकार की अनिवार्यता पर बल दिया है। उन्होंने मम्मट के काव्यलक्षण में "अनलङ्कृती" पद पर आपत्ति उठायी और कहा कि काव्य को अलंकारहीन कहना उतना ही संगत है जितना कि आग को ऊष्णताहीन कहना :—

अंगीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलङ्कृती।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलं कृती॥
(चन्द्रालोक– १, ८)

जयदेव अलंकारवादी आचार्य नहीं थे। वे रसध्वनि को काव्य में प्रधान स्थान देते हैं, फिर भी अलंकार को भी अनिवार्य स्थान देने के पक्ष में हैं।

मम्मटभट्ट को भी 'अनलङ्कृती पुनः क्वापि' से अलंकार हीनता से तात्पर्य नहीं है, जैसा कि उन्होंने इस कारिका की वृत्ति में स्पष्ट कर दिया है— "सर्वत्र सालंकार:', क्वचित्तु स्फुटालंकार विरहेऽपि न काव्यत्वहानिः"[२०]। अस्पष्ट रूप में ही सही, अलंकार का रहना मम्मट के मत में भी अनिवार्य ही है। फिर इस विशेषण के देने पर ही तो जयदेव ने इन पर आक्षेप कर दिया।

१८ जयदेवः आचार्य एवं नाटककार के रूप में—पृ०-९२।
१९ वाग्भटालंकार—४, १।
२० काव्यप्रकाशः— १, २।

विश्वनाथ आदि आचार्यों ने काव्यालंकारों को शरीरालंकार के तुल्य कहा है। उनका अभिप्राय है कि शब्द काव्य का शरीर है, रस, रसाभास, भाव, भावाभास, आदि आत्मा है, गुण, दया, क्षमा आदि गुण के समान है, अलंकार कटक-कुण्डलादि भूषण हैं[२१] इत्यादि। अब जैसे आत्मा के सम्बन्ध के अभाव में शरीर त्याज्य होता है वैसे ही रस के अभाव में काव्य चमत्कार-जनक न रहने से त्याज्य है—वह काव्य कहाने लायक नहीं है। और भी, यथा कुण्डलादि शरीरालंकार शरीरसम्बन्धी जीवात्मा का उत्कर्षाधायक होता है, ठीक वैसे ही अलंकार भी रसादि रूप काव्यात्मा का उत्कर्षाधायक है। शरीर भी तब तक ही अलंकारों (भूषणों) से शोभता है जब तक कि वह आत्मयुत रहता है। अतः शरीर - शोभावर्धन द्वारा शरीरालंकार जैसे आत्मोत्कर्ष प्रयोजक है वैसे ही काव्यालंकार शब्दार्थालंकरण द्वारा रसादिरूप आत्मा का ही अलंकरण है। इसलिए रसादि प्रधान वाक्य ही काव्य है यह सिद्ध हुआ।

विश्वनाथ के उपर्युक्त विवेचन पर[२२] परवर्त्ती आचार्य सन्तुष्ट नहीं हैं। उनका कहना है कि यदि रसादिसमर्पक वाक्य ही काव्य कहाये तो रसादि-रहित सालंकार पर्वतादि-वर्णन काव्य नहीं कहायेगा। यथा—

उदयति विततोर्ध्वरश्मिरज्जा-
वहिमरुचौ हिमधाम्नि याति चास्तम्।
वहति गिरिरयं विलम्बिघण्टा-
द्वयपरिवारित-वारणेन्द्रलीलाम् ॥

(शिशुपालवध—रैवतक-पर्वतवर्णन)

अर्थ—विस्तृत ऊर्ध्वमुख किरणरूप रज्जु से बँधे हुए सूर्य के उगते समय तथा तादृश चन्द्रमा के अस्त होते समय यह पर्वत उस विशाल हाथी के समान लगता है जिसके दोनों ओर बड़े-बड़े घंटे लटकते होते हैं।

---

२१ साहित्यदर्पणः—१, ४।

२२ अलंकारसागर—महावैयाकरण दीनबन्धुझा—पृ०—११।

यहाँ विश्वनाथ के मत से काव्यत्व नहीं हो सकता है। परन्तु अनुप्रासादि शब्दालंकार तथा रूपकानुप्राणित निदर्शनालंकार (अर्थालंकार) से सहृदय को आह्लाद होता है[२३]। इसी प्रकार—

गुणदोषौ बुधो गृह्णन् इन्दुक्ष्वेडाविवेश्वरः।
शिरसा श्लाघते पूर्वं परं कण्ठे नियच्छति ।।

अर्थ—जैसे महादेव चन्द्रमा एवं विष को धारण करते हैं वैसे ही विद्वान् गुण और दोष को धारण करते हुए पहले (गुण या चन्द्र) को शिरसे एवं दूसरे (दोष या विष) को कण्ठ में रख लेते हैं।

यहाँ भी रसादि के अभाव से विश्वनाथ के मत में काव्यत्व नहीं होगा, जब कि उपमालंकार से आह्लादकता सहृदयों के द्वारा अनुभूयमान है, अतः यहाँ काव्यप्रकाशानुसार काव्यत्व उपपन्न होता है।

यहाँ यह भी समझना चाहिए कि काव्यत्व का प्रयोजक अलंकार ही होता है, उसी पर रसादिरूप या अलंकारादिरूप अथवा तद्भिन्न वस्तु रूप जो व्यंग्य वह काव्य का[२४] उत्कर्षाधायक होता है। यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि काव्यालंकार को शरीरालंकार की कोटि में रखना नितान्त भूल है। आभूषण तो शरीर में उपस्ष्टिात् ही योजित होता है। अलंकार से रहित ही शरीर होता है। काव्यालंकार के साथ ऐसी बात नहीं है, वह तो शब्द का अर्थ रूप है जो हटाने योग्य नहीं। यथा—'नायिका का वदन चन्द्र के समान शोभित है'—यहाँ 'समान' शब्दार्थ सादृश्य ही उपमालंकार है जो हटाया नहीं जा सकता। उसे हटाने पर तो वह वाक्य भी नहीं कहा सकता, अलंकार की तो बात ही क्या। अतः काव्यालंकार उपस्ष्टिात् योजनीय न होकर काव्य का सहज धर्म ही है। इसे स्पष्ट करते हुए महावैयाकरण पं० दीनबन्धु झाने

---

२३ यद्यपि ऐसे स्थलों में सम्पूर्ण काव्यगत अङ्गीरस को लेकर यहाँ भी सरसत्व मान कर दोषोद्धार स्वयं विश्वनाथ ने किया है, फिर भी इस प्रकार के मुक्तक पद्य में दोष रह ही जाता है।

२४ अलंकारसागर—पृ०–१३।

अपने मैथिली भाषा में ग्रथित अलंकारसागर नामक ग्रन्थ में लिखा है :—

"अलंकार में जे शरीरालंकारक तुलना "दर्पण" में[२५] कहल गेल अछि सेहो अनुचित, हेतु जे शरीरालंकार प्रत्येक शरीर में उपरिष्टात् योजनीय होइत अछि। अलंकाररहिते शरीर थिक, शरीर पर अलंकारक योजना ओकर उत्कर्षाधायक होइत अछि। काव्यालंकार तँ शब्दक अर्थरूप थिक, से हटएवाक योग्य नहि। यथा—'भगवानक चरण रक्तकमल सन शोभित अछि' एहिठाम 'सन' शब्दार्थ सादृश्ये अलंकार थिक, से हटएबाक योग्य नहि। तकरा हटओला सँ वाक्य अनन्वितार्थक भए जाएत। तखन ओकरा वाक्यो नहि कहि सकी, काव्य कहबाक कोन सम्भव ? अतः काव्यालंकार आधेय नहिं थिक। तस्मात् शरीरालंकारक सादृश्यकथन असङ्गत। अतएव 'प्रकाशमे[२६] काव्य-लक्षणमे सालंकारत्व देल गेल अछि"।

(अलंकारसागर—पृ०—१३-१४)

इस प्रकार परवर्ती आचार्य भी अलंकारों की प्रमुखता पर बल देते रहे हैं। इसकी परम्परा अविच्छिन्न रही है। आदिकाल से सभी आचार्य इसका निरूपण करते आ रहे हैं। ज्ञातव्य है कि रस, गुण, रीति, ध्वनि आदि सभी काव्यतत्त्वों की अपेक्षा काव्यशास्त्रकारों ने अलंकार के निरूपण में कहीं दस गुना अधिक स्थान एवं समय लगाये हैं। ध्वनिसमर्थक आचार्य के ग्रन्थों के आधे से अधिक भाग में अलंकार ही वर्णित हैं। और वे भी अलंकारों की महत्ता पर बल देते रहे हैं। क्रमशः अलंकारों की संख्या में वृद्धि देखी जाती रही है। इस तरह अलंकार की परम्परा आज तक बनी हुई है। इसके शताधिक आचार्य दो सहस्राब्दियों में समय-समय पर अपने ग्रन्थों से इस परम्परा को पुष्ट करते आये हैं।

---

२५ साहित्यदर्पण।

२६ काव्यप्रकाश।

अलंकारशास्त्र के प्रमुख आचार्य

(१) आचार्य भरत मुनि (ई० पू० २०० से पहले)

काव्यशास्त्र के उपलब्ध प्राचीनतम ग्रन्थ भरत मुनिकृत नाट्यशास्त्र है, जिसमें ६००० श्लोक हैं। उपलब्ध नाट्यशास्त्र में ३६ लक्षणों एवं ४ अलंकारों का निरूपण हुआ है। इसमें नाट्यसम्बन्धी सभी विषयों का विस्तृत विवेचन है।

(२) महर्षि व्यास (ई० पू० १०० से पहले)

विष्णुधर्मोत्तरपुराण, अग्निपुराण एवं नारदपुराण में महर्षि व्यास ने अलंकारशास्त्रीय तत्त्वों का वर्णन किया है। इन वर्णित अंशों को देखकर विद्वानों ने निर्णय किया है कि यह सामग्री ई० २०० से पहले का नहीं है[1]।

(३) भामह (५०० ई०)

इनका 'काव्यालंकार' अलंकारसम्प्रदाय का मूल एवं आदि विवेचक ग्रन्थ है। इसमें कुल ३८ अलंकार वर्णित हैं। इस ग्रन्थ में छः परिच्छेद एवं ४०० श्लोक हैं। प्राकृतप्रकाश पर मनोरमा व्याख्या भी भामह का ही है।

(४) दण्डी (६५० ई०)

काव्यादर्श के रचयिता आचार्य दण्डी काव्यशास्त्र के मान्य आचार्य हैं। इनके तीन ग्रन्थ हैं—(१) काव्यादर्श, (२) दशकुमारचरित और (३) अवन्तिसुन्दरीकथा। दण्डी ने अपनी अवन्तिसुन्दरीकथा में अपने को महाकवि भारवि का प्रपौत्र बतलाया है। ये भी भामह की तरह अलंकारवादी आचार्य थे।

(५) उद्भट (७५० ई०)

इनका काव्यालंकारसारसंग्रह अलंकारशास्त्र का एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। ये काश्मीरी ब्राह्मण थे और काश्मीर के राजा जयादित्य (७७९–८१३ ई०) के आश्रित रहते हुए प्रतिदिन एक लाख अशर्फी वेतन पाते थे[2]। इनका भामहविवरण अंशतः उपलब्ध है।

१, अलंकारप्रकाश—पृ०–१५ २, राजतरङ्गिणी—४, ४९५

(६) वामन (८०० ई०)

रीतिसम्प्रदाय के प्रवर्त्तक एवं प्रचारक आचार्य वामन काश्मीर के राजा जयादित्य (७७९–८१३ ई०) के मन्त्री थे[3]। इनका 'काव्यालंकारसूत्रवृत्ति' नामक ग्रन्थ अपने ढंग का अनूठा है। इसमें १५ अधिकरण, १२ अध्याय और ६१२ सूत्र हैं। ये व्याकरणशास्त्रीय काशिकावृत्ति के रचयिता वामन से भिन्न एवं परवर्त्ती थे।

(७) रुद्रट (८२५ ई०)

काव्यालंकारकार रुद्रट का नामान्तर शतानन्द था और ये काश्मीर के रहने वाले थे। राजशेखर ने इनका उल्लेख किया है[4]। इनके ग्रन्थ में १६ अध्याय एवं ७१४ आर्याएँ हैं। आचार्य रुद्रट ने मौलिक तत्त्वों के आधार पर अलंकारों का वर्गीकरण करते हुए अलंकारशास्त्र में एक नया मार्ग प्रदर्शित किया है[5]।

(८) आनन्दवर्धन (८५० ई०)

ध्वनिसम्प्रदाय के प्रतिष्ठापक ध्वन्यालोककार आनन्दवर्धन काव्यशास्त्र के सर्वप्रमुख आचार्यों में हैं। इनके द्वारा इस शास्त्र में एक नया युग का प्रवर्त्तन होता है। रस, गुण, रीति और अलंकार के विषय में इतना गम्भीर विचार अन्यत्र नहीं मिलता है। ये काश्मीर नरेश अवन्तिवर्मा (८५५–८८४ ई०) के आश्रित थे[6]। ध्वन्यालोक पर आचार्य अभिनव गुप्त जैसे प्रामाणिक आचार्य की 'लोचन' व्याख्या रची गयी।

९. राजशेखर (९०० ई०)

महाराष्ट्र के यायावर वंश में उत्पन्न अकाल-जलद के पौत्र एवं दुर्दुक

---

३ राजतरङ्गिणी—४, ४९७।

४ काव्यमीमांसा—पृ०—३१।

५ अलंकार प्रकाश—पृ० अवतरणिका—२०।

५ राजतरङ्गिणी—पृ०—८४।

के पुत्र यायावरीय आचार्य राजशेखर अपने काव्यमीमांसा के द्वारा काव्यशास्त्र में अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। चौहान वंशीय महाविदुषी अवन्तिसुन्दरी इनकी धर्मपत्नी थी। काव्यमीमांसा १८ अध्यायों में प्राञ्जल गद्य-पद्यमय शास्त्रीय ग्रन्थ है। इनके बालरामायण और बालभारत नामक दो नाटक प्रसिद्ध हैं। इन्होंने विद्धशालभञ्जिका नाटिका तथा कर्पूरमञ्जरी सट्टक की रचना की जो सशक्त लेखनी के प्रतीक हैं।

१०. भोजराज [९९१ से १०५४ ई०]

मालवा के राजा भोज विक्रमादित्य के समान ही संस्कृत साहित्य एवं साहित्यकार के प्रबल पोषक थे। इन्होंने स्वयं दर्जनों ग्रन्थों की रचना की। सरस्वतीकण्ठाभरण नामक व्याकरण एवं काव्यशास्त्र का ग्रन्थ इनके महत्त्व को सर्वाधिक प्रकाशित करते हैं। 'शृङ्गारप्रकाश' में इन्होंने रसविवेचन प्रस्तुत किया है। मम्मट ने काव्यप्रकाश के उदात्त अलंकार के प्रसंग में इनकी चर्चा की है।

११. कुन्तक (१००० ई०)

वक्रोक्तिसम्प्रदाय के प्रवर्त्तक आचार्य कुन्तक वक्रोक्तिजीवित नामक परम प्रसिद्ध ग्रन्थ की रचना की। महिमभट्ट ने कुन्तक की चर्चा की है[७] और मम्मट ने महिमभट्ट की[८]। अतः कुन्तक मम्मट से पूर्ववर्त्ती सिद्ध होते हैं।

१२. अभिनवगुप्त (१००० ई०)

शैवागमदर्शन के महामान्य आचार्य अभिनव गुप्त नरसिंह गुप्त के पुत्र काश्मीर निवासी थे। इनके गुरु भट्टतौत ने काव्यकौतुक की रचना की थी। शैवागम दर्शन में अभिनवगुप्त के दर्जनों ग्रन्थ उपलब्ध हैं। काव्यशास्त्र में इनकी ध्वन्यालोक व्याख्या लोचन तथा नाट्यशास्त्र की व्याख्या अभिनवभारती प्रसिद्ध हैं। लोचन में इनकी मौलिक दृष्टि देखी जाती है।

---

७ व्यक्तिविवेक—पृ०—२८, ५८।

८ काव्यप्रकाश—पृ०—४५।

१३. धनञ्जय (१००० ई०)

मालवा के राजा मुञ्ज (भोज के चाचा) के आश्रित धनञ्जय विष्णु के पुत्र एव दशरूपकावलोककार धनिक के अग्रज थे। इन्होंने अपने दशरूपक में नाटकादि दस रूपकों एवं नाटिका का वर्णन तथा समग्रभावादि का निरूपण किया है।

१४. महिमभट्ट (१००० ई०)

व्यक्तिविवेककार महिमभट्ट काश्मीरी नैयायिक थे। ये ध्वनिविरोधी आचार्य हैं। इनके पिता का नाम श्रीधैर्य एवं गुरु का नाम श्यामल था। ये अनुमान में ही ध्वनि को गतार्थ मानते हैं। इन्होंने रसको काव्य की आत्मा मानी है।

१५. क्षेमेन्द्र (१०५० ई०)

औचित्यसम्प्रदाय के प्रवर्त्तक आचार्य क्षेमेन्द्र "औचित्य-विचारचर्चा" के लेखक हैं। ये अभिनव गुप्त के शिष्य थे। शैव होने के बाद ये सोमाचार्य से दीक्षा लेकर वैष्णव हो गये। कविकण्ठाभरण, सुवृत्ततिलक, बृहत्कथा-मञ्जरी, समयमातृका आदि इनकी प्रसिद्ध कृतियाँ हैं।

१६. मम्मट (१०५० ई०)

काव्यप्रकाश के रचयिता मम्मट काश्मीर निवासी उपाध्याय जैयट के पुत्र तथा महाभाष्यप्रदीपकार कैयट के अग्रज थे। ये ध्वनिप्रस्थान के परमाचार्य थे। काव्यप्रकाश में दस उल्लास है जिनमें दसम उल्लास के परिकर अलंकार पर्यन्त मम्मट की कृति है और उसके बाद के अंश अल्लट सूरि की रचना है[१]। टीकासम्पत्ति की दृष्टि से काव्यप्रकाश सर्वाधिक धनी है। पठनपाठन में भी यह सर्वाधिक प्रचलित है।

१७. रुय्यक (११०० ई०)

काश्मीरी पण्डित रुय्यक ने अलंकारसर्वस्व लिखकर काव्यशास्त्र को

---

१ काव्यप्रकाश के अन्त में एवं राजनक आनन्दकृत काव्यप्रकाश निदर्शन के अन्त में।

संवर्धित किया। सहृदयलीला और व्यक्तिविवेकटीका भी इन्हीं की रचनाएँ हैं। अलंकारसर्वस्व पर जयरथकृत विमर्शिनी महत्त्वपूर्ण टीका है।

१८. हेमचन्द्र (११२५ ई०)

गुजरात निवासी जैनाचार्य हेमचन्द्र ने सिद्धहेमशब्दानुशासन नामक व्याकरण एवं काव्यशास्त्र की रचना की। इसका पूर्वार्ध व्याकरणानुशासन एवं उत्तरार्ध काव्यानुशासन है। यह सूत्रवृत्ति शैली का ग्रन्थ है।

१९. वाग्भट (प्रथम) [११२५ ई०]

सोमाचार्य के पुत्र वाग्भट जैनाचार्य थे। इनके काव्यालंकार को वाग्भटालंकार कहा जाता है। इसके पांच परिच्छेदों में २६० कारिकाएँ हैं जिनमें काव्यशास्त्रीय सभी तत्त्वों का समावेश किया गया है। इन्होंने चालुक्य-वंशीय[१०] राजा जयसिंह का वर्णन किया है। अतः इनका समय बारहवीं शती का पूर्वार्द्ध सिद्ध होता है।

२०. शारदातनय (१२०० ई०)

इन्होंने अपने भावप्रकाशन में नाट्यशास्त्रीय विषयों का विवेचन किया है।

२१. शोभाकर मित्र (१२५० ई०)

इनका अलंकाररत्नाकर परमप्रसिद्ध काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ है। इसमें इन्होंने १०९ अलंकारों का विवेचन किया है, जिनमें ३९ अलंकार इनके द्वारा नवीन उद्भावित हैं।

२२. अमृतानन्द योगी (१२७५ ई०)

आचार्य वामन के रीतिसम्प्रदाय के पोषक[११] आचार्य अमृतानन्द योगी ने अलंकारसंग्रह की रचना की। इसमें काव्य के सभी अंगों का विवेचन हुआ है।

---

१० वाग्भटालंकार—४, ७६।

११ "रीतिरात्मात्र काव्यस्य कथ्यते सा चतुर्विधा"—अलंकारसंग्रह—५, १।

२३. देवेश्वर (१३०० ई०)

इन्होंने कविकल्पलता नामक अलंकारशास्त्रीय ग्रन्थ की रचना की।

२४. विद्याधर (१३०० ई०)

काव्यशास्त्रीय सकलविषयों का कारिका, वृत्ति और उदाहरण के द्वारा प्रदर्शन करने वाला ग्रन्थ एकावली[१२] विद्याधर की रचना है। इसमें ८ उन्मेष हैं। इस ग्रन्थ पर मल्लिनाथ की 'तरल' व्याख्या है। एकावली के सकल उदाहरण श्लोक उत्कलाधीश नरसिंहदेव (१२८०–१३१४ ई०) की प्रशस्तियाँ हैं। शिंगभूपाल ने[१३] विद्याधर का उल्लेख किया है।

२५. विद्यानाथ (१३०० ई०)

आन्ध्रप्रदेश के काकतीयवंशीय राजा प्रतापरुद्र के नाम पर विद्यानाथ ने "प्रतापरुद्रयशोभूषण" नामक काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ की रचना की, जिसमें नायक काव्य, नाटक, रस, दोष, गुण, शब्दालंकार, अर्थालकार और मिश्रालंकार नाम के नौ प्रकरण हैं। इस पर टीकाकार मल्लिनाथ के पुत्र कुमार स्वामी की 'रत्नापण' नाम की व्याख्या है।

२६. जयदेव (१३०० ई०)

पीयूषवर्ष की उपाधि से सम्मानित आचार्य जयदेव ने 'चन्द्रालोक' नामक काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ की रचना की। इसमें दस मयूख हैं। ये मिथिला के निवासी शाण्डिल्य (या कौण्डिल्य) गोत्रीय महादेवोपाध्याय एवं सुमित्रादेवी के पुत्र थे। इन्होंने प्रसन्नराघव नाटक की रचना की।

विद्वानों का मत है[१४] कि प्रसिद्ध नैयायिक पक्षधर मिश्र, जिनका नाम जयदेव भी था और जिन्होंने 'तत्त्वचिन्तामण्यालोक' नामक न्यायग्रन्थ की रचना की थी, चन्द्रालोककार जयदेव से अभिन्न थे। यहाँ यह भी ध्यातव्य

---

१२ 'एकावली' नाम का इससे भिन्न छन्दः शास्त्र का ग्रन्थ गोकुलनाथोपाध्याय का है।

१३ रसार्णवसुधाकर—पृ–२०६।

१४ मिथिलातत्त्वविमर्श—पृ०–१२३।

है कि तत्त्वचिन्तामण्यालोककार का समय १४५० ई० निश्चित है,[१५] जब कि प्रसन्नराघव के कतिपय उद्धरण (१) विश्वनाथकृत साहित्यदर्पण (१३९० ई०)[१६], (२) शार्ङ्गधरपद्धति[१७] (१३६३ ई०) और (३) शिंगभूपालकृत रसार्णवसुधाकर[१८] (१३३० ई०) में मिलते हैं। यह भी सत्य है कि प्रसन्नराघवकार अपने को उद्भट [१९]नैयायिक कहते हैं और पक्षधर मिश्र तो अजेय नैयायिक थे ही। ऐसी स्थिति में निर्णय कठिन है।

गीतगोविन्दकार जयदेव इनसे भिन्न एवं पूर्ववर्त्ती थे, क्योंकि वे लक्ष्मणसेन के सभापण्डित एवं उत्कल-निवासी थे।

२७. विश्वनाथ (१३५० ई०)

उत्कलदेशीय विश्वनाथ महापात्र ने एक विशालकाय सांगोपांग ग्रन्थ साहित्यदर्पण की रचना की, जिसमें काव्य और नाट्य दोनों के सभी अंगों पर प्रकाश डाला गया है। ये उत्कलाधीश (भानुदेवतृतीय) के मन्त्री थे। इनके पिता चन्द्रशेखर तथा वृद्धप्रपितामह नारायणदास थे। काव्यप्रकाशदीपिकाकार चण्डीदास इनके पितामहभ्राता थे। इन्होंने काव्यप्रकाशदर्पण की भी रचना की।

२८. भानुदत्त मिश्र (१५०० ई०)

मिथिलादेशीय सरिसवग्रामनिवासी सोदरपुर सरिसव वंशीय श्रोत्रिय भानुदत्तमिश्र ने अलंकारतिलक, रसमञ्जरी और रसतरङ्गिणी इन तीन काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों का प्रणयन किया। इन्होंने (१) रसपारिजात (२) गीतगौरीपति, (३) कुमारभार्गवीयचम्पू आदि काव्यग्रन्थों का प्रणयन किया।

---

१५ मिथिला तत्त्वविमर्श—पृ०—१२३।

१६ साहित्यदर्पण—३, ५१।

१७ शार्ङ्गधरपद्धति १६४।

१८ हिस्ट्री ऑफ सं० पोएटिक्स—काणे—पृ० १९८ खं—१।

१९ प्रसन्नराघव—१, १८।

इनके पिता म० म० गणपति, पितामह महादेव और प्रपितामह अयाचिप्रसिद्ध म० म० भवनाथ मिश्र थे। म० म० शंकरमिश्र भानुदत्त के पितामहभ्राता थे।

२९. केशव मिश्र (१५०० ई०)

ये सोदरपुरकटका[२०] वंशीय विश्वधर मिश्र के पुत्र और दायाद सम्बन्ध में म० म० पक्षधरमिश्र के भतीजे लगते थे। इन्होंने कोटा के राजा माणिक्य चन्द्र के नाम पर 'अलंकारशेखर' की रचना की, जिसमें अलंकारशास्त्रीय सभी विषयों का समावेश है। इसमें कारिकाभाग भगवान शौद्धोदनि की और वृत्ति तथा उदाहरण केशवमिश्र के अपने हैं।

केशवमिश्र ने गौतमीयसूत्रप्रकाश एवं संख्यापरिमाण ग्रन्थ की भी रचना की है। उपर्युक्त तीनों ग्रन्थों की कुछ पंक्तियाँ समान पायी जाती है तथा संख्यापरिमाण की अन्तिम पक्ति से इनका मैथिल होना सिद्ध होता है। तदनुसार ये मिथिला के 'कटका' गाँव के निवासी थे।

तर्कभाषाकार केशवमिश्र (१२०० ई०) तथा द्वैतपरिशिष्टकार केशव-मिश्र (१५०० ई०, म० म० वाचस्पतिमिश्र के पौत्र) इस आलंकारिक केशव मिश्र से भिन्न व्यक्ति थे।

३०. गोविन्द ठक्कुर (१५०० ई०)

काव्यप्रदीपकार गोविन्द ठक्कुर इस शास्त्र के प्रख्यात आचार्य थे। यह ग्रन्थ काव्यप्रकाश के कारिका एवं उदाहरण को आधार बनाकर स्वतन्त्र रूप से वृत्ति एवं विवरण प्रस्तुत करता है। काव्यप्रकाश के वृत्ति भाग से इसका अलग हीं रूप है। इस दृष्टि से इसे स्वतन्त्र ग्रन्थ माना जा सकता है। अतएव गोविन्द ठक्कुर ने प्रदीप को प्रकाश की व्याख्या नहीं मानी है। उन्होंने कहा है कि यह (प्रदीप) 'प्रकाश' को भी प्रकाशित करता है। इस पर दो प्रौढ़ व्याख्याएँ लिखी गयीं— (१) नागेभट्टकृत उद्योत एवं (२) वैद्यनाथ तत्सत् कृत प्रभा।

---

२० 'संख्यापरिमाण'—केशवमिश्र–ग्रन्थ के अन्त में।

गोविन्द ठक्कुर ने दो प्रदीपों (१) काव्यप्रदीप एवं (२) पूजाप्रदीप तथा दो दीपिकाओं (१) उदाहरणदीपिका (काव्यप्रदीपस्थ उदाहरणों की व्याख्या) एवं (२) मन्त्रदीपिका की रचना की। ये कूचविहार के र जा भवानन्दराय के आश्रित थे[२१]। ये 'घुसोत नगवाड़' मूलक मैथिल श्रोत्रिय थे[२२] तथा सरिसवग्राम के समीप गङ्गौली गाँव में निवास करते थे। ये केशव ठक्कुर के पुत्र थे। इनके आठों पुत्र महामहोपाध्याय थे, जिनमें आलोककण्टकोद्धारकार म० म० मधुसूदन एवं सप्तकौमुदीकार म० म० देवनाथ ठक्कुर प्रख्यात ग्रन्थकार थे।

३१. म० म० देवनाथ ठक्कुर (१५५० ई०)

इनकी काव्यकौमुदी आजतक अप्रकाशित है[२३]। इसमें इन्होंने अपने पिता गोविन्द ठक्कुर पर किये गये आक्षेपों का उत्तार दिया है। इनके पुत्र रामानन्द ठक्कुर ने रसतरंगिणी की रचना कीं। देवनाथ ने विभिन्न शास्त्रों में सात कौमुदी की रचना की— (१) अधिकरणकौमुदो (मीमांसा), (२) स्मृतिकौमुदी (धर्मशास्त्र), (३) कालकौमुदी (ज्योतिष), (४) तन्त्रकौमुदो (तन्त्र), (५) मन्त्रकौमुदी (तन्त्र), (६) काव्यकौमुदी (साहित्य) और (७) प्रमाणकौमुदी या तत्त्वकौमुदी (न्याय), जिनमें क्रमांक १, २, ४ और ५ ही प्रकाशित हैं, शेष हस्तलेख स्थित ही हैं। देवनाथ ने कामरूप एवं कूचविहार के नरेशों की सभाओं को भी कुछ दिन तक अलंकृत किया था[२४]।

३२. रूप गोस्वामी (१५५० ई०)

ये वंगीय वैष्णव महात्मा थे। इन्होंने भक्ति को प्रधान रस माना है। इनके ग्रन्थ हैं— (१) भक्तिरसामृतसिन्धु और (२) उज्ज्वलनीलमणि। ये

---

२१ 'पूजाप्रदीप' के आदि में।

२२ मिथिलातत्त्वविमर्श—पृ०—१३८।

२३ इसकी हस्तलिखित प्रतिलिपि मिथिला विद्यापीठ, दरभंगा में अंशतः तथा गंगानाथझा केन्द्रीय विद्यापीठ इलाहाबाद में पूर्ण उपलब्ध है।

२४ तन्त्रकौमुदी की भूमिका। मन्त्रकौमुदी की भूमिका।

दोनों ही रसशास्त्र के ग्रन्थ हैं। रूपगोस्वामी चैतन्यमहाप्रभु के अन्तरंग शिष्य थे।

३३. कवि कर्णपूर (१५५० ई०)

बंगाल के नदिया के निवासी परमानन्ददास सेन ही कर्णपूर नाम से प्रसिद्ध हुए। इनके पिता शिवानन्दजी चैतन्यमहाप्रभु के शिष्य थे। इन्होंने काव्याशास्त्रीय सभी विषयों को अपने अलंकारकौस्तुभ के १० किरणों में निवद्ध कर दिया है। इनका चैतन्यचन्द्रोदय नाटक भी प्रकाशित है।

३४. अप्पय दीक्षित (१६०० ई०)

दीक्षितजी द्राविड़ ब्राह्मण थे और काशी में अध्यापन करते थे। ये अत्यन्त प्रौढ़विद्वान् एवं गहन विचारक थे। इन्होंने चित्रमीमांसा एवं कुवलयानन्द नामक अलंकारशास्त्रीय ग्रन्थ की रचना की। ये मीमांसादि अनेक शास्त्रों के पण्डित थे। इनके विधिरसायन आदि दर्जनों ग्रन्थ हैं। पण्डितराज जगन्नाथ ने इनका तीव्र खण्डन किया है। कुवलयानन्द पर प्रौढ़ टीकाएँ लिखीं गयीं।

३५. रामानन्द (१६०० ई०)

ये म० म० देवनाथ ठक्कुर के पुत्र एवं काव्यप्रदीपकार गोविन्द ठक्कुरके पौत्र थे। इन्होंने नायक-नायिका विवेचक ग्रन्थ 'रसतरङ्गिणी' की रचना की।

३६. कृष्णानन्द (१६०० ई०)

ये काव्यप्रदीपकार गोविन्द ठक्कुर के पौत्रएवं कण्टकोद्धारकार मधुसूदन ठक्कुर के पुत्र थे। इन्होंने अलंकारपरिशिष्ट की रचना की, जिसके हस्तलेख का उल्लेख मिथिला मैन्युस्क्रिप्ट कैटलॉग में है।

३७. गङ्गानन्द कवीन्द्र (१६०० ई०)

ये रसमञ्जरीकार भानुदत्त के पौत्री के पुत्र थे। ये 'वलियासय माण्डर' कुल के श्रोत्रिय थे। इन्होंने मेवाड़ के राजा कर्णसिंह के आदेश से कर्णभूषण' नामक रसविवेचक ग्रन्थ की रचना की। भृंगदूत, शृंगारवनमाला, अलस-

मोदिनी आदि इनके प्रसिद्ध काव्यग्रन्थ हैं। दोषविवेचन पर इन्होंने काव्य-डाकिनी नाम का स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखा। ये सरिसब गाँव (मिथिला) के निवासी थे।

३८. शंकर मिश्र (१६०० ई०)

ये नैयायिक शंकर मिश्र से भिन्न व्यक्ति हैं। इन्होंने 'साहित्यकलिका' की रचना की थी जो आज नाममात्र से ज्ञात है। मिथिला मैन्युस्क्रिप्ट कैटलॉग में इसका निर्देश है कि दरभंगा जिले के ठाढ़ी गाँव के पं० दामोदरझा के पास इसका हस्तलेख था।

३९. चतुर्भुज (१६०० ई०)

इनका 'साहित्यविलास' ग्रन्थ मिथिला हस्तलेख सूची (पटना) में निर्दिष्ट है। ये पण्डितराज रघुनन्दन के पुत्र थे। रघुनन्दन ने बादशाह अकबर से मिथिला राज्य पाकर अपने गुरु महामहोपाध्याय महेश ठक्कुर को गुरुदक्षिणा में दे दिया था[२५]। चतुर्भुज ने नेपाल के राजा के आश्रय में रहकर अनेक ग्रन्थों की रचना की जिनमें नामलिङ्गानुशासनवृत्ति (अमरकोष-व्याख्या), हरिचरितमहाकाव्य तथा मैथिलीभाषात्मक गीत मुख्य हैं। मिथिला में इन्हें चतुरचतुर्भुज के नाम से जाना जाता है।

४०. नरसिंह ठक्कुर (१६०० ई०)

ये काव्यप्रदीपकार गोविन्द ठक्कुर के दायाद में पड़ते हैं। घुसोतवंशीय रविकर ठक्कुर से गोविन्द चतुर्थ एवं नरसिंह सप्तम पुरुष नीचे पड़ते हैं। इनके पिता म० म० गदाधर ठक्कुर इनके गुरु थे, जो मिथिला के पचही गाँव में बसते थे। नरसिंह स्वयं दीप गाँव (झंझारपुर के निकट) के निवासी थे। इन्होंने 'नरसिंहमनीषा' नामक काव्यप्रकाश की पाण्डित्यपूर्ण व्याख्या रची। इसका कुछ अंश काव्यप्रकाश की वामनीटीका में यत्र तत्र सन्निविष्ट है। इसका हस्तलेख भाण्डारकर प्राच्यविद्या संशोधन संस्थान, पूना में अपूर्ण है।

---

२५ मिथिलातत्त्वविमर्श—पृ०–१४२।

नरसिंह ने जयपुर नरेश राजा मानसिंह के पुत्र राजा भावसिंह के निदेश पर ताराभक्तिसुधार्णव (तन्त्र) नामक विशाल ग्रन्थ की रचना की। इनका धर्मशास्त्रीय महाग्रन्थ प्रमाणपल्लव[२६] है।

४१. पण्डितराज जगन्नाथ (१६५० ई०)

तैलङ्ग ब्राह्मण पेरमभट्टके पुत्र जगन्नाथ ने बादशाह शाहजहां से पण्डित-राज की उपाधि प्राप्त की थी। ये एक उच्चकोटि के कवि, आलोचक एवं शास्त्रकार थे। इनका 'रसगङ्गाधर' साहित्यशास्त्र के महत्त्व को दिखानेवाला है। इसमें रस, भाव, अलंकार, ध्वनि आदि का सूक्ष्मविवेचन एवं आलोचना है। चित्रमीमांसाखण्डन इनका काव्यशास्त्रीय दूसरा ग्रन्थ है। भामिनीविलास गंगालहरी, जगदाभरण आदि इनके काव्य ग्रन्थ हैं।

४२. आशाधरभट्ट (१६५० ई०)

रामजीभट्ट के पुत्र और धरणीधरभट्ट के शिष्य आशाधरभट्ट काशी के निवासी थे। इन्होंने 'अलंकारदीपिका' नामक अलंकारशास्त्रीय ग्रन्थ की रचना की। इनके दो और ग्रन्थ इसी शास्त्र के मिलते हैं—(१) त्रिवेणिका (अभिधा, लक्षणा, व्यञ्जना) और (२) कोविदानन्द।

४३. गोकुलनाथोपाध्याय (१७०० ई०)

इन्होंने 'काव्यप्रकाशविवरण' में अपनी मौलिक दृष्टि दर्शायी है। 'रस-महार्णव' इनका काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ है, जो वृत्तिविचार मात्र उपलब्ध है। ये विविधशास्त्र के पण्डित थे। इनके पचासों ग्रन्थ हैं जिनमें (१) एकावली (छन्दोग्रन्थ)[२७], (२) पदवाक्यरत्नाकर (शब्दखण्ड), (३) सूक्तिमुक्तावली (गद्यकाव्य), (४) अमृतोदयनाटकम्, (५) दीधितिविद्योत (न्याय), (६) रश्मिचक्र (तत्त्वचिन्तामणिटीका), (७) कुण्डकादम्बरी, (८) कादम्बरी प्रदीप (धर्मशास्त्र), (९) कादम्बरीप्रश्नोत्तरमाला (खगोलशास्त्र) आदि मुख्य हैं।

---

२६ दरभंगा संस्कृत विश्वविद्यालय से डॉ० शशिनाथ झा के सम्पादकत्व में प्रकाशित।

२७ इसपर डॉ० शशिनाथझा विद्यावाचस्पति की मञ्जुधारिणी व्याख्या प्रकाशित हुई है, दरभंगा संस्कृत विश्वविद्यालय से १९८५ ई० में।

ये मिथिला के मंगलवनी गांव के निवासी 'फणदहा' कुल के मैथिल ब्राह्मण थे। इनके पिता एवं गुरु विद्यानिधि पीताम्वर उपाध्याय सिद्ध पुरुष थे।

४४. इन्द्रपति उपाध्याय (१७२५ ई०)

ये मिथिलाधीश विष्णुसिंह (१७२५–१७४३ ई०) के समकालिक थे। इनका निवास सरिसव गाँव में था। ये 'कर्महावेहट' कुल के मैथिल ब्राह्मण थे। इनके पितामहभ्राता प्रभावतीपरिणयनाटककार हरिहरोपाध्याय एवं पितामह ज्योतिर्विद नीलकण्ठ और पिता रुचिपति थे। इन्होंने केवल अलंकार विवेचन हेतु अलंकारसमुद्ग की रचना की। मम्मट के अनुसार ही इन्होंने अलंकारों की संख्या, क्रम एवं उदाहरण दी है, पर कारिकाएँ इनकी अपनी हैं और उनपर विवेचना भी निजी है।

४५. चिन्नधर उपाध्याय (१७५० ई०)

ये मिथिला के मंगलवनी गाँव के निवासी थे। इनके रसनिरूपणात्मक दो ग्रन्थ[२८] प्रकाशित हैं— (१) शृंगारसारिणी, (२) वीरतरङ्गिणी। इनका न्यायशास्त्रीय ग्रन्थ है प्रमाणप्रमोद।

४६. नरसिंह कवि (१७७५ ई०)

ये मैसूर के शासक नञ्जराज के आश्रित थे। इन्होंने "नञ्जराजयशोभूषण" की सात विलासों में रचना की, जिसमें नायक, काव्य, ध्वनि, रस, दोष, नाटक तथा अलंकार का निरूपण है। यह ग्रन्थ विद्यानाथकृत प्रतापरुद्रयशोभूषण की शैली पर लिखा गया है। अतः इसमें सकल उदाहरण नञ्जराज से सम्बद्ध हैं। इसके षष्ठविलास के रूप में 'नञ्जराजचरित' नाटक का ही समावेश कर दिया गया है।

४७. विश्वेश्वर पण्डित (१७७५ ई०)

ये लक्ष्मीधर के पुत्र तथा अल्मोड़ा जिला के पाटिया गाँव के पर्वतीय

---

२८ दोनों ग्रन्थ डॉ० त्रिलोकनाथ झा के सम्पादन में दरभंगा से प्रकाशित हैं।

प्रदेश के निवासी थे। इन्होने अलंकारकौस्तुभ, अलंकारमुक्तावली, अलंकार-कुलप्रदीप, रसचन्द्रिका और कवीन्द्रकण्ठाभरण इन पांच काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों की रचना की। इनकी शैली अत्यन्त प्रौढ़ एवं परिष्कृत है। इन्होंने अप्पय-दीक्षित एवं जगन्नाथ की आलोचना की है। इनके वैयाकरणसिद्धान्तसुधानिधि आदि ग्रन्थ भी प्रसिद्ध हैं।

४८. वेणीदत्त (१८०० ई०)

ये 'कर्महाबेहट' कुल के श्रोत्रिय ब्राह्मण थे। इनके पिता जगन्नाथोपाध्याय थे। ये मिथिला के सरिसब (हाटो) गाँव के निवासी थे। ये अपने भागिनेय मिथिलेश माधव सिंह (१७८५–१८०६ ई०) के सभापण्डित थे। इन्हीं के कुल में हरिहरोपाध्याय, ज्यो० नीलकण्ठोपाध्याय एवं इन्द्रपति उपाध्याय हुए थे। इन्होंने रसविवेचक ग्रन्थ रसकौस्तुभ एवं अलंकारविवेचक अलंकारमञ्जरी[२९] की रचना की। इनके प्रपौत्र के पौत्र पं० श्री कुञ्जनाथ झा उन्हीं के निवासभूमि पर विराजमान हैं। वेणीदत्तकृत मैथिलीभाषा के कुछ गीत भी उपलब्ध हुए हैं[३०]। इनका कवित्व उच्चकोटि का है।

४९. भानुनाथ दैवज्ञ (१८५० ई०)

ये 'खौआल' वंशीय मैथिल मनीषी थे। इनका निवास पिलखवार गाँव था। इनके पिता नेन्दन उपाध्याय नेपाल नरेश से पर्याप्त धन पाये थे। ये ज्योतिषशास्त्र एवं काव्यशास्त्र के मर्मज्ञ थे। रसविवेचना पर इनका ग्रन्थ 'शृङ्गारमञ्जरी'[३१] है। प्रभावतीहरणनाटक में इन्होंने मैथिली गीत को समाविष्ट कर दिया है। ज्योतिष में व्यवहाररत्न ग्रन्थ इनका प्रसिद्ध है।

५०. अच्युत राय (१८५० ई०)

ये नासिक (पञ्चवटी, महाराष्ट्र) के निवासी थे। इन्होंने 'साहित्यसार'

---

२९ मिथिला विद्यापीठ, दरभंगा से कविशेखर बदरीनाथझा के सम्पादन में १९६१ ई० में प्रकाशित।

३० ज्ञानलोक पत्रिका अंक–२ (१९८४ ई०)।

३१ डॉ० त्रिलोकनाथझा के सम्पादन में "तन्त्रनाथझा अभिनन्दनग्रन्थ" में प्रकाशित (दरभंगा—१९७८ ई०)।

नामक ग्रन्थ की रचना १८३१ ई० में की थी। इसमें साहित्य के सभी विषयों का महत्त्वपूर्ण प्रामाणिक विवेचन किया गया है।

५१. कृष्णमाधव झा (१९५० ई०)

ये 'कर्महाबेहट' कुल में उत्पन्न हुए, जिसमें हरिहरोपाध्याय, नीलकण्ठोपाध्याय, इन्द्रपत्युपाध्याय और कविवेणीदत्त ने जन्म ग्रहण किया था। ये सरिसव के समीप विट्ठो गाँव (मिथिला) के निवासी थे। ये बम्बई के एक संस्कृत महाविद्यालय में अध्यापन करते थे। इन्होंने नैयायिक शैली में अलंकारों के लक्षण (गद्यात्मक) एवं परिष्कार निरूपित करते हुए 'अलंकारविद्योतन'[३२] की रचना की। इनका अन्य ग्रन्थ परमलघुमञ्जूषा व्याख्या, व्युत्पत्तिवादगूढ़ार्थ-तत्त्वालोकव्याख्या, धर्मशास्त्रेण मलमासविचार: आदि हैं। हाल ही में इनका देहान्त हुआ है। इनके पिता पं० गोवर्धन झा थे। इनके पुत्र डॉ० पं० श्री गंगानाथ झा, संस्कृत महाविद्यालय, इसहपुर के प्रधानाचार्य तथा डा० किशोरनाथ झा, गंगानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, इलाहाबाद में रीडर हैं।

५२. कविशेखर बदरीनाथझा (१९५० ई०)

'खौआल' कुलोत्पन्न सरिसव ग्रामनिवासी, धर्मसमाज संस्कृत महाविद्यालय, मुजफ्फरपुर के प्राध्यापक कविशेखरजीने रसगंगाधर, ध्वन्यालोक एवं रसमञ्जरी की व्याख्याएँ लिखीं। इनका 'काव्यात्मविमर्श' ग्रन्थ भी प्रकाश में आया है[३३]। इन्होंने 'राधापरिणय' महाकाव्य की संस्कृत में तथा एकावलीपरिणय महाकाव्य की मैथिली में रचना की। 'साहित्यमीमांसा'[३४] इनकी काव्यशास्त्रीय मौलिक कृति है।

५३. आनन्द झा (१९१४–१९८८ ई०)

इन्होंने ध्वन्यालोक के प्रथम उद्योत पर ध्वनिसाहस्री (ध्वन्यालोक-

---

३२ कविशेखरपुष्पाञ्जलि, दरभंगा–१९७४ ई० में प्रकाशित।

३३ विश्वमनीषा—८/३।

३४ डा० गङ्गानाथझा–अभिनन्दनग्रन्थ (१९३७ ई०) में प्रकाशित।

वार्त्तिक) की रचना की और व्यक्तिविवेक पर भी 'ध्वनिखण्डन' नाम से वार्तिकों की रचना की। ये सभी वार्त्तिक श्लोकबद्ध[३५] हैं। आनन्दझाजी जैसे उच्चकोटि के नैयायिक थे, वैसे कवि एवं आलोचक भी। इनकी वेदान्त-परिभाषा व्याख्या, आनन्दमधुमन्दाकिनी (कविता) और हृत्परिवर्तननाटक उच्चकोटि की रचनाएँ हैं। ये 'पाण्डुए महेन्द्रपुर' मूलक मैथिल ब्राह्मण थे। इनका निवास सिंहवार गाँव में था। ये लखनऊ विश्वविद्यालय के प्राच्यविद्या विभाग के प्रधान थे। दरभंगा संस्कृत विश्वविद्यालय ने इन्हें सम्मानित प्राध्यापक के रूप में स्थान दिया।

---

३५ ये दोनों ग्रन्थ एक साथ 'ध्वनिकल्लोलिनी' नाम से दरभंगा संस्कृत विश्वविद्यालय से प्रकाशित हैं।

अलंकारों का विकास

अलंकार के चमत्कार हमें आदिकाल से ही दृष्टिगोचर होते हैं। इसकी प्राचीनता वहाँ तक चली जाती है जहाँ से लोक में शब्दार्थ की प्रवृत्ति देखी जाती है। प्राचीनतम ग्रन्थ वेद में उपमादि अनेकों अलंकारों के उदाहरण पाये जाते[१] हैं। उपमावाचक न, इव, समान और उपमा शब्द देखे जाते हैं। ऋग्वेद में "सोमा अरंकृताः"[२] के रूप में शोभातिशयवाचक अरंकृत शब्द एवं "का ते अस्त्यरंकृतिः"[३] में अरंकृति शब्द पाये जाते हैं। महाभारत में चमत्कृत शब्द के अर्थ में अलंकृत शब्द पाया जाता है[४]। आचार्य यास्क ने अरंकृत को अलंकृत का पर्यायवाची माना है[५]। इस प्रकार प्राचीन साहित्यों में अलंकार का बीज पाया जाता है। इसी का अंकुर आचार्य भरत के नाट्य शास्त्र में उगता है और अलंकार शब्द काव्यशास्त्रीय तत्त्व के रूप में सामने आता है तथा इसके उपमा आदि कतिपय भेद भी किये हुए मिलते हैं।

आचार्य भरत से लेकर आज तक अलंकारों का विकास पाया जाता है। भरत ने केवल चार अलंकारों का वर्णन किया है—

उमा रूपकं चैव दीपकं यमकं तथा।
काव्यस्यैते ह्यलंकाराः चत्वारः परिकीर्तिताः[६] ॥

इन्होंने उपमादि के व्यापक रूप को पकड़ा था। इनमें यमक शब्दालंकार और उपमा, रूपक एवं दीपक अर्थालंकार हैं। यद्यपि भरत ने जिन छत्तीस[७] लक्षणों का निरूपण किया है, उनमें से कतिपय आगे चलकर परवर्त्ती आचार्यों की दृष्टि में अलंकार कहाते हैं, परन्तु भरत ने इन्हें अलंकार नहीं कहा है।

भरत के बाद आचार्य भामह ने काव्यालंकार के द्वितीय एवं तृतीय परिच्छेदों में अनुप्रास एवं यमक नामक दो शब्दालंकारों एवं रूपक, दीपक, उपमा

---

१ ऋग्वेद—१–९। २ ऋग्वेद - १–२–१। ३ ऋग्वेद—७–२९–३।
४ महाभारत—आदिपर्व—१–२७। ५ निरुक्त—१०, १, २।
६ नाट्यशास्त्र—१७, ४०। ७ नाट्यशास्त्र—१७, १–५।

आदि सैंतीस अर्थालंकारों का वर्णन किया है। इन्होंने स्वभावोक्ति को, वार्तामात्र कहकर उपेक्षा[८] कर दी है और वक्रोक्ति को सब अलंकारों का मूल स्वीकार किया है[९]।

महाकवि दण्डी भामह के समान ही दो शब्दालंकार एवं सैंतीस अर्थालंकार मानते हैं, परन्तु ये विचारधारा की दृष्टि से भामह के ठीक विपरीत हैं। इन्होंने स्वभावोक्ति को प्रथम कोटि में स्थान दिया है[१०]। हेतु, सूक्ष्म तथा लेश को ये अलंकार मानते हैं।

इसके बाद उद्भट ने पुनरुक्तवदाभास, छेकानुप्रास एवं लाटानुप्रास इन तीन शब्दालंकार और प्रतिवस्तूपमा, काव्यलिंग और दृष्टान्त इन तीन अर्थालकारों की उद्भावना की।

आचार्य वामन ने वक्रोक्ति और व्याजोक्ति नामक दो नवीन अलंकारों के साथ तैंतीस अलंकारों का विवेचन किया है और पूर्वाचार्य - प्रतिपादित कतिपय अलंकारों को छाँट दिया है। आगे चलकर आचार्य रुद्रट ने अलंकार शास्त्र में अलंकारों की संख्या को प्रचुर रूप में बढ़ा दी। इन्होंने कुल छियासठ अलंकारों में पैंतीस नवीन अलंकारों की उद्भावना की। उनके बाद भोजराज के सरस्वतीकण्ठाभरण में इक्कीस नवीन अलंकारों की वृद्धि पायी जाती है[११]।

आचार्य मम्मट ने पूर्वाचार्यों के अलंकारों को समीक्षित कर कुल चौहत्तर अलंकारों को ही ग्राह्य माना, जिनमें सात इनके अपने उद्भावित हैं[१२]। अबतक सभी पूर्वाचार्यों के द्वारा प्रतिपादित कुल अलंकार १३० हो जाते हैं। जिनमें से मम्मट ने छप्पन की छँटाई कर दी मम्मट के बाद के आचार्यों ने भी अलंकारों के विकास में, उनकी संख्या में वृद्धि करने में पर्याप्त प्रगति की।

---

८ काव्यालंकार—भामह—२, ८७।

९ काव्यालंकार ...भामह—२, ८५।

१० काव्यादर्श....२, २८।

११ अलंकारप्रकाश—०पृ—३१।

१२ अलंकारप्रकाश—पृ०—३१।

इनमें अलंकारसर्वस्वकार रुय्यक ने चार, अलंकाररत्नाकरकार शोभाकर मित्र ने उनचालीस, चन्द्रालोककार जयदेव ने इकत्तीस, साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने दो, अलंकारशेखरकार केशव मिश्र ने 'अन्यदेशत्व' नामक एक, कुवलयानन्द-कार अप्पय दीक्षित ने दो और रसगंगाधरकार पण्डितराज जगन्नाथ ने एक नवीन अलंकार की उद्भावना की[१३]।

इस प्रकार जगन्नाथ तक सभी आचार्यों के द्वारा प्रतिपादित कुल अलंकारों की संख्या दो सौ तेरह हो जाती है[१४] जब कि किसी एक आचार्य ने १२३ से अधिक अलंकारों का विवेचन नहीं किया है[१५]। पण्डितराज जगन्नाथ के बाद भी अलंकारों की विवेचना एवं उद्भावना होती रही। १८ वीं शदी के नरसिंह कवि ने अपने नञ्जराजयशोभूषण में, विश्वेश्वर पण्डित ने अलंकार-कौस्तुभ में एवं अच्युत राय ने अपने साहित्यसार में प्रचुर मात्रा में अलंकारों की गहन विवेचना की है। कवि वेणीदत्त के अलंकारमञ्जरी एवं पण्डित कृष्णमाधवझा के अलंकारविद्योतन में अलंकारों की संख्या एवं स्फीत परिष्कृत विवेचन में वृद्धि देखी जाती है।

जहाँ तक अलंकारों की उद्भावना का प्रश्न है, आज भी तादृश चमत्कार की अनुभूति से नवीन अलंकार उद्भावित हो रहे हैं। जैसे महावैयाकरण पं० दीनबन्धु झा ने (१९५५ ई०) अलंकारसागर में स्नेहालंकार की उद्-भावना की है। अपने प्रियजन को दीन अवस्था में देखकर उसके समाधान में अशक्य रहने पर उनके समान अनुभूति करने को स्नेहालंकार कहते हैं। जैसे—मेरे प्रिय भ्राता राम वन में कुशासन पर ही सोते हैं, यह जान कर भरत भी अपने राजभवन में कुशासन पर ही सोने लगे[१६]।'

---

१३ असंकार प्रकाश—पृ० ३१-३५।

१४ अलंकार प्रकाश पृ० ३५।

१५ कुवलयानन्द में १२३, अलंकार रत्नाकर में १०१, चन्द्रालोक में १०८, वाग्भट के काव्यानुशासन में ६९ और अलंकारसर्वस्व में ८२ अलंकार वर्णित हैं।

१६ उपसृष्टधात्वर्थ संग्रह—परिशिष्ट।

इसी प्रकार प्रसिद्ध विद्वान् सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय के कुलपति[१७] डा० वेंकटाचलम् ने एक नवीन 'विकृति' नामक अलंकार की उद्भावना की है। जहाँ शब्द के किसी अवयव में जोड़-घटाव करके चमत्कार लाया जाय वहाँ 'विकृति' अलंकार होता है। इस स्थल में अर्थ की गोपनीयता न रहने से प्रहेलिका नहीं मानी जा सकती है।

सखि ! पश्य पुरो भाति कुन्दपुञ्जं मनोहरम् ।
अमुना कुन्दपुञ्जेन सखि ! मे किं प्रयोजनम् ॥

यहाँ अमुना (न मुना=मुशब्देन) का अर्थ है 'मु' शब्दे से रहित, कुन्द के पुञ्ज से मुझे क्या मतलब ? अर्थात् 'मु' युक्त एक ही कुन्द=मुकुन्द=कृष्ण से ही मुझे प्रयोजन है। यहाँ कुन्द शब्द में 'मु' अक्षर जोड़ने पर जो चमत्कार अनुभूत है, उसे विकृति नामक अलंकार माना जा सकता है।

इस प्रकार अलंकारों का विकास आज भी जारी है। इस पर अनेक मौलिक एवं समीक्षात्मक ग्रन्थ रचे जा रहे हैं।

★

१७ दरभंगा संस्कृत विश्वविद्यालय में दिये गये भाषण के अनुसार।

अलंकारशास्त्र में अलंकारसमुद्ग का स्थान

पूर्ववर्णित अलंकार शास्त्र की इस विशाल परम्परा में सैकड़ों ग्रन्थ लिखे गये। इनमें छोटे या बड़े जितने ग्रन्थ हैं उन सबों का अपना-अपना खास स्थान, महत्व एवं उद्देश्य हैं। कोई ग्रन्थ गूढ़तत्त्व को उद्भावित करने हेतु, कोई प्रौढ़ पाण्डित्य प्रदर्शन हेतु और कोई अल्पमति बालकों के सौविध्य हेतु लिखे गये।

जहाँ तक अलंकार समुद्ग का प्रश्न है, इसमें आचार्य इन्द्रपति उपाध्याय ने स्वयं ही कहा है[1] कि सामान्य कोटि के पाठकों को अलकार का तत्त्व जहाँ तक हृदयंगम हो सके इसी उद्देश्य से इस ग्रन्थ की रचना हुई। तदनुसार साहित्यशास्त्र में कुछ प्रवेश पाने के बाद इसके आलंकारिक तत्त्वों से पूर्णतः सुगम रीति से अवगत होनेवाले पाठक इससे पूर्णरूपेण लाभान्वित होंगे। काव्यप्रकाश के द्वारा यह कार्य कठिन है। कुवलयानन्द अपने सूक्ष्म विचारों के कारण इसका स्थान नहीं ले सकता। यद्यपि यह ग्रन्थ काव्यप्रकाश का अनुगामी है फिर भी कारिका के द्वारा सकल विषयों को साङ्गोपाङ्ग एवं सुगम रीति से प्रतिपादित करने के कारण इसका महत्व बढ़ जाता है।

इस प्रकार यह ग्रन्थ अलंकारशास्त्र में अपना एक विलक्षण स्थान रखता है। अलंकारों के सभी भेद एवं उपभेद यहाँ सरल भाषा में निवद्ध कारिकाओं के द्वारा उपनिवद्ध हैं। प्रसिद्ध एवं प्रचलित होने के कारण काव्यप्रकाश के उदाहरण ही मुख्यतः यहाँ उद्धृत हैं जिनका ग्रन्थकार ने संक्षिप्त व्याख्यान भी वहुधा प्रस्तुत कर दिया है। इस प्रकार का यह ग्रन्थ अलंकारशास्त्र में अपने समान अकेला ही है।

★

---

१ अलंकारसमुद्ग—कारिका—२

म० म० इन्द्रपति का पूर्ण परिचय

अलंकार समुद्गकार म० म० इन्द्रपति उपाध्याय मिथिला के प्रसिद्ध मीमांसक थे। इनका जन्म 'कर्महा बेहट' कुल के श्रोत्रिय विद्वत्परिवार में हुआ था। ये म० म० राघव उपाध्याय[1] के प्रपौत्र ज्योर्विद नीलकण्ठ उपाध्याय के पौत्र और ज्योतिर्विद रुचिपति के पुत्र थे। इनके पितामह-भ्राता प्रभावतीपरिणय–नाटककार हरिहर उपाध्याय थे। इनके वश में अनेक प्रख्यात ग्रन्थकार हो चुके हैं।

इन्द्रपति के वंश में प्रसिद्ध ग्रन्थकार

१ म० म० हरिहरोपाध्याय (१५५० ई०)—

इनके ग्रन्थ बहुत प्रसिद्ध हैं– १ प्रभावतीपरिणयनाटक २ सूक्तिमुक्तावली (हरिहरसुभाषित)। (भर्तृहरिनिर्वेदनाटक के रचयिता वलियासवंशीय धर्माधिकरणिक हरिहर थे, जो विद्यापति के समकालिक थे।)

प्रभावतीपरिणय एवं सूक्तिमुक्तावली में समान पद्यों से अपना विस्तृत परिचय देने वाले हरिहर भर्त्तृहरिनिर्वेद में केवल अपने नाम से हो परिचय दें, यह संगत नहीं लगता है। विद्यापति के समय किसी प्रभावशाली गोरखपन्थी महात्मा का मिथिला में प्रादुर्भाव हुआ था। अतः विद्यापति ने गोरक्षविजय नाटक की एवं हरिहर ने भर्त्तृहरिनिर्वेद की रचना की।

२ नीलकण्ठ उपाध्याय –

ये हरिहर के अनुज एवं इन्द्रपति के पितामह थे। हरिहर ने "श्रीनीलकण्ठ कविकण्ठ विभूषणाय"[2] शब्द से इनकी चर्चा की है। एवं नीलकण्ठ ने अपनी जन्मपद्धति में "हरिहरकविपण्डिताधिराजावरज इमां स चकार नीलकण्ठः" शब्द से इनका उल्लेख किया है। नीलकण्ठ, कवि एवं ज्योतिर्विद

---

१ हेमाद्रिभारती, छन्दःकल्पतरु, काव्यप्रकाशावचूरि, वाग्भटालंकारावचूरि आदि ग्रन्थों के रचयिता। ये सभी ग्रन्थ अप्रकाशित हैं।

२ हरिहरसुभाषित के अन्त।

थे। ये ताजिककार नीलकण्ठ से भिन्न एवं परवर्ती हैं। इनके तीन ग्रन्थ हस्तलेख रूप में ही उपलब्ध हैं— १ जन्मपद्धति (जातकपद्धति[3]), २ ज्योतिः सौख्य (टोडरानन्द), ३ मध्यमग्रहसिद्धि[4]। ज्योतिःसौख्य राजा टोडरमल्ल की आज्ञा से लिखा गया, जिसका हस्तलेख दरभंगा संस्कृत विश्वविद्यालय में उपलब्ध है।

३ म० म० वंशधर उपाध्याय (वनाग्नि)— ये हरिरहोपाध्याय के वैमात्रेय भ्राता थे। न्यायशास्त्र में "तत्त्वपरीक्षा" नामक ग्रन्थ इनके पाण्डित्य का प्रकाशक है।

४ कवि वेणीदत्त (२८०० ई०)— ये राघव के प्रपौत्र के पुत्र थे। इनके ग्रन्थ हैं—(१) रसकौस्तुभ और (२) अलङ्कारमञ्जरी।

५ पं० कृष्णमाधव झा— ये वर्त्तमान शताब्दी के मूर्धन्य वैयाकरण एवं नैयायिक थे। इनके रचित परमलघुमंजूषाटीका (२) अलंकारविद्योतनम् (३) गूढार्थतत्त्वालोकव्याख्या आदि ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं।

६ म० म० इन्द्रपति :— इन्द्रपति के पिता ज्यो० रुचिपति का विवाह माण्डर सिहौल कुल के नैयायिक बलदेव की कन्या रुक्मिणी देवी से हुआ था। जैसा कि स्वयं इन्द्रपति ने लिखा है—

यं लेभे रुक्मिणी देवी सूरे रुचिपतेस्सुतम्।
स तनोति शिवं नत्वा मीमांसा-रसपल्वलम्॥[5]

इन्द्रपति उपाध्याय मुख्यतः मीमांसा के पण्डित थे। इन्होंने अपने मीमांसा के ग्रन्थ मीमांसारसपल्वल में लिखा है कि इन्होंने गोपालभट्ट से जैमिनि सिद्धान्त का अध्ययन किया था[6]। इस ग्रन्थ में इन्होंने मीमांसा के विधिवाक्यार्थ-

---

३ इसका सम्पादन डा० आमोद झा, दरभंगा के द्वारा किया जा चुका है, जो अप्रकाशित है।

४ डा० उदयनाथ झा के कथनानुसार।

५ मीमांसा रसपल्वल पृ०—१ श्लोक—३

६ ,, ,, पृ०— श्लोक—२

निरूपण के उपयोगी विषयों का स्पष्ट एवं विस्तृत विवेचन किया है जिनमें अपूर्व विधि, नियम विधि और परिसंख्या विधि एवं इनके निर्णायक श्रुति, लिङ्ग, वाक्य, प्रकरण, स्थान और सम के विवेचनके साथ-साथ इनके बलाबल का विचार भी प्रस्तुत किया है।

मीमांसक होने के साथ ही इन्द्रपति आलंकारिक आचार्य एवं कुशल कवि भी थे। इनकी कुशलता का प्रमाण अलंकार समुद्ग की कारिकायें हैं।

यद्यपि इनके निवासस्थान के सम्बन्ध में विद्वानों में मतैक्य नहीं है। परन्तु मैं उपलब्ध साक्ष्य के आधार पर कहना चाहूँगा कि ये बिहार राज्य स्थित मधुबनी जिला के विट्ठो ग्राम निवासी थे। वर्तमान में भी इसी वंश के डा० गंगानाथ झा 'बुभुक्षुक', डा० किशोर नाथ झा तथा डा० उदयनाथ झा प्रभृति विद्वान अपने निर्मल वैदुष्य से इस गाँव और इस वंश को अलंकृत कर रहे हैं। प्राचीन विभूति की तरह इन्द्रपति भी अपने जन्म स्थान के प्रसंग में कहीं कुछ भी नहीं कहा है, परन्तु अपने प्रदेश की चर्चा में मूक नहीं रहे—

"अविवेको मिथिलायाः शिशुरेको धीरमर्थयति।
बालकखेलन-हेलन-बुद्ध्या कोपो मयि त्याज्यः[७]॥"

इन्द्रपति का विवाह माण्डर सिहौल वंशीय पं० मेधापति झा की कन्या से हुआ था। इसमें इन्हें एक पुत्र-रत्न हुए—'मुनि' प्रसिद्ध म० म० कृष्णपति (तर्ककुतूहलकार)। कृष्णपति नैयायिक के साथ-साथ काव्यशास्त्री भी थे। ये मैथिलीभाषा के लब्ध-प्रतिष्ठ साहित्यकार थे, परन्तु इनकी रचना बहुत कम मिलती है। इनके पुत्र रमण प्रसिद्ध [A]रमापति तथा पौत्र 'व्युत्पत्तिवाद' के झलहनी व्याख्याकार तार्किक झलहन थे। झलहन के प्रसंग डा० वेदनाथ झाजी कहते हैं—

"झलहन कें निरपत्य रहने ई शाखा अवरुद्ध भय गेल[८]" (झलहन को कोई सन्तान नहीं हुई, अतः यह शाखा यहीं आकर रुक गयी)। वस्तुतः

७ मीमांसारसपल्वलम्—पृ०-१ श्लो० सं०-४।

A वृत्तसार (छन्दोग्रन्थ) के रचयिता रमापति पल्लीवंशीय कविशेखर यशोधर के पुत्र थे।

८ मिथिलामिहिर—३१ अक्तूबर १९८२।

पञ्जी-प्रबन्ध में झलहन के बाद का नामोल्लेख नहीं है। दुर्भाग्यवश यह शाखा यहीं आकर अवरुद्ध हो गयी।

इनके नाम तथा उपाधि (टाइटिल) में विभिन्नता देखने को मिलती है। कारण, इनकी चर्चा कहीं इन्द्रपति उपाध्याय के रूप में हुई है, तो कहीं इन्द्रमणि ठाकुर[९] के रूप में। इतना ही नहीं इन्द्रदेव मिश्र[१०] और सदुपाध्याय इन्द्रभट्ट के रूप में भी इनकी चर्चा कहीं कहीं मिलती है। परन्तु मैं उपलब्ध साक्ष्य के आधार पर कहना चाहूँगा कि न इनका नाम इन्द्रमणि ठाकुर, न इन्द्रदेव मिश्र और न सदुपाध्याय इन्द्रभट्ट[११] ही था। प्रमाणतः इनका नाम था म० म० इन्द्रपति उपाध्याय। यही नाम और उपाधि पञ्जी में अंकित है और इनके प्रकाशित-अप्रकाशित ग्रन्थों में भी। दूसरी बात हमलोग 'पञ्जी-प्रबन्ध' को प्रमाण मानते हैं, क्योंकि तात्कालिक अज्ञात विभूतियों का ठोस परिचय हमें 'पञ्जी' से ही मिलता है। अतः इस प्रसंग में विवाद करना ही व्यर्थ है।

इन्द्रपति की रचनाएँ :—

मीमांसक म० म० इन्द्रति रचित ४ ग्रन्थ ही उपलब्ध होते हैं—१ मीमांसा रसपल्वलम्, २ अलंकारसमुद्‌ग ३ रसमार्त्तण्ड और ४ विधिविवेकप्रकाश। इनमें पहला ग्रन्थ गंगानाथझा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापोठ, इलाहाबाद से डा० किशोर नाथ झा के सम्पादकत्व में १९७७ ई० में प्रकाशित हो चुका है। दूसरा अप्रकाशित एकमात्र पाण्डलिपि के रूप में कामेश्वर सिंह दरभंगा संस्कृत विश्वविद्यालय के पुस्तकालय में सुरक्षित है, जिसके आधार पर प्रस्तुत संस्करण हो सका है। इस ग्रन्थ को कोई 'अलंकारविवृति' कहते हैं, तो कोई 'अलंकारसमुद्‌ग'। परन्तु मेरी नजर में इस ग्रन्थ को किसी ने भलीभाँति नहीं देखा। वस्तुतः इस ग्रन्थ का नाम मूल हस्तलेख में 'अलंकारसमुद्‌ग' है। रसमार्त्तण्ड (साहित्यशास्त्रीयरसनिरूपणात्मक ग्रन्थ) का सम्पादन बड़ौदा के

---

९ मिथिलाङ्क स० सुरेन्द्र झा 'सुमन'।
१० मिथिला के मीमांसक—गंगा।
११ मीमांसा शास्त्र की पाण्डुलिपियाँ (बंग देश विशेषांक)।

डॉ० विनायक शंकर पटेल कर रहे हैं। विधिविवेकप्रकाश का हस्तलेख बड़ौदा में ही है।[१२]

जितने अलंकारों की विवेचना आचार्य मम्मट ने अपने 'काव्यप्रकाश' में की है, उतने ही अलंकारों की विवेचना अलङ्कारसमुद्ग में हुई है। वस्तुतः यह ग्रन्थ अपने नाम के अनुरूप ही है, क्योंकि इसमें अलंकारों का लक्षण, भेद तथा उदाहरण मात्र वर्णित है। प्राचीन आलंकारिकों के समान ही इन्द्रपति ने भी अलंकारों के लक्षण कारिका के रूप में तथा उदाहरण यत्र-तत्र से चुने हुए श्लोक दिये हैं।

इन्द्रपति ने 'अलंकारसमुद्ग' की रचना नन्दीपति के लिये की थी। नन्दीपति का दूसरा नाम 'बादरि' भी था। ये मिथिलेश विष्णु सिंह के आश्रित तथा मैथिली के सुप्रसिद्ध कवि थे और इनकी कृष्णकेलिमाला नाटिका प्रसिद्ध है। इन्द्रपति स्वयं 'अलंकारसमुद्ग' के आरम्भ में कहते हैं—

"नन्दीपतेरपरबादरिनामकस्य

सम्मानितस्य मिथिलाधिपविष्णुसिंहैः।

भाषाकवेर्मनसि-तोषसुवृद्धिहेतो-

रेनं निबन्धमयमिन्द्रपतिस्तनोति[१३] ॥

'बादरि' इन्द्रपति के भागिनेय थे। क्योंकि ये थे ज्योतिर्विद म० म० नीलकण्ठ के दौहित्रीपुत्र और इन्द्रपति थे उक्त ज्योतिर्विद के पौत्र। मुख्यतः यही सम्बन्ध इन दोनों में था। मेरी नजर में दोनों में समान वयस जन्य प्रगाढ़ मैत्री थी। इसीलिये इन्द्रपति ने इनकी मनःतुष्टि के लिये प्रस्तुत पुस्तक की रचना की।

इन्द्रपति का समय :—

विद्वानों के बीच इन्द्रपति के समय निर्धारण में पर्याप्त मतभेद है। कोई

१२ रसमार्त्तण्ड एवं विधिविवेकव्याख्या की सूचना डॉ० उदयनाथ झा 'अशोक' ने दी है। इस हेतु हम उनके कृतज्ञ हैं।

१३ अलंकारसमुद्ग—श्लोक सं०—२।

इनको नान्यवंशीय[१४] शासनकाल में मानते हैं तो कोई ओइवार कुल के महाराज भैरव सिंह के समकालीन कहते हैं, और इनके पूर्वज को माहिष्मती के निजाम साह का सभासद[१५]। परन्तु उपर्युक्त कथन म० म० इन्द्रपति ठक्कुर के विषय में है, जबकि इन्द्रपति थे खण्डवला-कुलोद्भव मिथिलेश विष्णु सिंह के समकालीन। अगर इनके समकालीन न होते तो विष्णु सिंह के दरबारी कवि 'बादरि' की मनःतुष्टि के लिये 'अलंकारसमुद्ग' की रचना कैसे करते ? इतना ही नहीं, स्वयं इन्द्रपति मीमांसारसपल्वलम् के अन्त में लिखते हैं—

"महामहोपाध्याय इन्द्रपतिना कृतं मीमांसारसपल्वलम्। शाके १६६७ मार्ग शुक्लपञ्चदश्यां रवौ[१६]"।

दूसरी बात, ये महाराज विष्णु सिंह के समकालीन थे, जो इन्हीं के कथन से स्पष्ट हो जाता है। विष्णु सिंह का राज्यकाल है १७४० से १७४४ ई०। अत: आचार्य इन्द्रति का भी समय १७ वीं १८ वीं शदी के मध्य निश्चित होता है और स्वयं इन्द्रपति थे महाराज विष्णु सिंह तथा महाराज नरेन्द्र सिंह के सभासद्।

यह भी कहा जाता है कि 'नरेन्द्र-विजय' ग्रन्थ के रचयिता 'ईश'[१७] इस 'इन्द्रपति' से अभिन्न हैं, किन्तु बिना किसी प्रमाण से कुछ भी कहना असंगत होगा। इस 'ईश' के प्रसंग में आचार्य शिवपूजन सहायजी लिखते हैं— "इस नाम के एक और कवि १८ वीं शदी में हो गये हैं, जो मिथिला निवासी और म० नरेन्द्र सिंह (१४४-६१) के दरवारी कवि थे। इनकी एक पुस्तकाकार रचना 'नरेन्द्रविजय' नाम से मिलती है[१८]"। अस्तु

अब प्रश्न उठता है कि ये वैष्णव, शैव या शाक्त थे ? मेरे विचार में ये किसी विशेष सम्प्रदाय के पक्ष में नहीं थे। क्योंकि ये अपने उक्त दोनों चर्चित ग्रन्थ

---

१४ मिथिलाङ्क—१९३६ ई०।

१५ मिथिला की तान्त्रिक सेवा, सरस्वती- २१३-६।

~~१६ मीमांसारसपल्वलम् के अन्त।~~

१७ हिन्दी साहित्य और विहार।

१८ हिन्दी साहित्य और विहार।

में शिव, विष्णु[१९] तथा गणेश[२०] को प्रणामाञ्जलि अर्पित करते हैं। अतः ये मैथिल परम्परानुसार पञ्चदेवोपासक थे।

इन्द्रपति ने अपने मीमांसारसपल्वल में गोविन्द ठक्कुर, चन्द्र, जीर्णोद्धारकृन्मधुसूदन ठक्कुर, देवनाथ ठक्कुर, वाचस्पति मिश्र, पक्षधरोपाध्याय, वर्धमानोपाध्याय, श्राद्धचिन्तामणिव्याख्याकृद् वामदेवोपाध्याय (१६०० ई०), सदानन्द ठक्कुर आदि विद्वानों के मतों को उद्धृत किया है।

अलङ्कारसमुद्ग में इन्होंने भाषाकवि नन्दीपति (१७५० ई०), मिथिलाधिपति विष्णुसिंह (१७४२–४४ ई०), अलंकारसर्वस्व, भट्टपाद, रसविद्याविशारदाः, पौराणिक, वामन, अस्मत्पितामहभ्रातृचरणाः (हरिहरोपाध्याय) तथा रसविद्याविदः केचित् का उल्लेख किया है।

साहित्यशास्त्र को रसशास्त्र या रसविद्या कहते हुए इन्होंने रससिद्धान्त को सर्वाधिक महत्त्व दिया है।

रसकौस्तुभ एवं अलंकारमञ्जरी के रचयिता कवि वेणीदत्त झा इन्द्रपति के शिष्य तथा पितामहभ्राता के प्रपौत्र थे। उन्होंने अपनी अलंकारमञ्जरीमें मूलकारिकाओं (लक्षणों) को पूर्वाचार्यकृत कहा है, जो वस्तुतः इन्द्रपति के ही हैं, उनके उदाहरण वेणीदत्त रचित हैं। अतएव कारिकाओं में साहित्यविद्या के लिए रसविद्या शब्द का प्रयोग हुआ है जो इन्द्रपति द्वारा प्रचुरतया व्यवहृत शब्द है। (द्रष्टव्य—व्याजस्तुति अलंकार का लक्षण।)

धर्मशास्त्रीय ग्रन्थ धर्माधर्मप्रबोधिनीकार प्रेमनिधि ने अपने पिता का नाम इन्द्रपतिठक्कुर लिखा है। इससे कुछ लोग भ्रमवश अलंकारसमुद्गकार इन्द्रपति के पुत्र के रूप में प्रेमनिधि का उल्लेख करते हैं। उन्हें यह जानना चाहिए कि प्रेमनिधि के पिता ठक्कुर उपाधिवाले थे :—

"श्रीमन्मैथिल—ठक्कुरेन्द्रपतिजो"—।

---

१९ अलंकारसमुद्ग (मंगल)।

२० मीमांसारसपल्वलम् (मंगल)।

दूसरी बात यह है कि धर्माधर्मप्रवोधिनी का एक हस्तलेख १४१० शाके का मिलता है जो १४८८ ई० होता है। इस शाके को संवत् भी मानें तो भी १४४५ ई० से आगे यह नहीं हो सकता, जो प्रस्तुत इन्द्रपति उपाध्याय के काल १७४० ई० से दो सौ वर्ष से भी अधिक पहले का होता है। अतः इन्द्रपति ठक्कुर एवं प्रेमनिधि ठक्कुर १५ वीं शती के अन्त एवं उसके आसपास के ही थे और प्रस्तुत इन्द्रपति सुतरां उससे भिन्न हुए। श्राद्धरत्नकार लक्ष्मीपति के गुरु इन्द्रपति ठक्कुर ही थे। (द्रष्टव्य—History of Dharmashastra in Mithla – Jayadeva Ganguli – पृ०–177–79.)

करमहाबेहट वंश (इन्द्रपति की वंशावली)

- म० म० राघव उपाध्याय
  - वनाग्नि
    - जयकृष्ण कविः
      - नै० जगन्नाथः
        - भवानीदत्तः
          - कृष्णदत्तः
            - हेमदत्तः
              - गोवर्धनः
                - ० म० कृष्णमाधवझा
                  - ० गङ्गानाथझा
                    - डा० उदयनाथझा 'अशोकः'
                  - डा० किशोरनाथझा (बिट्ठो, सरिसव के निवासी)
        - कवि वेणीदत्तः
          - श्रीदत्तः
            - फकीरः
              - रंगनाथः
                - श्रीवैद्यनाथझा
                - श्रीकुञ्जनझा (हाटी सरिसव निवासी)
          - सोमदत्तः
            - झिंगुरः
              - कल्याणः
                - निःवत्यनाथः
                - हर्षनाथः
                  - श्री खेलानाथझा (कल्याणपुर सरिसव के निकट के निवासी)
  - म० म० हरिहरः
    - ×
  - ज्यो० नीलकण्ठः
    - ज्यो० रुचिपतिः
      - म० म० इन्द्रपतिः
        - मुनि प्र० कृष्णपति कविः
          - रमणः (रमापतिः)
            - नै० झलहनः
              - +
    - नै० प्रेमनिधिः

अलंकार समुद्ग, एक अप्रकाशित रचना

अलंकार शास्त्र का यह अलंकार समुद्ग ग्रन्थ अल्प-प्रचलित रहने के कारण आज तक अप्रकाशित ही रहा है। इसके हस्तलेख दुर्लभ हो गये हैं। संयोगवश इसका एकमात्र हस्तलेख हमें कामेश्वर सिंह दरभंगा संस्कृत विश्वविद्यालय के मातृका विभाग में खण्डित रूप में मिला। इसमें इसके केवल एक तिहाई अंश ही अनुमानतः प्राप्त है। शेष दो तिहाई अंश अभी तक प्राप्त नहीं हो सका है। प्राप्त अंश व्यतिरेकालंकार पर्यन्त है।

हस्तलेख विवरण :-

यह ग्रन्थ विश्वविद्यालयीय हस्तलेख संख्या २९२/१३ बँसहा कागज पर लिखा है। लिपि मिथिलाक्षर है। अनेकों स्थल पर अक्षर धुँधले पड़ गये हैं। इसमें कुल बीस पत्र हैं। पत्र के दोनों ओर लिखा है। प्रति पृष्ठ दस पंक्तियां एवं प्रति पंक्ति ६४ अक्षर हैं। हस्तलेख कुछ स्थलों को छोड़कर सामान्यतः शुद्ध है। इसका मुख पृष्ठ सादा है जिसपर एक श्लोक अंकित है जो प्रायः इन्द्रपति का ही होगा।

ॐ नमस्ते विश्वनाथाय संसारस्थितिहेतवे।
जगतां रूपिणे तुभ्यं जन्तूनां परमात्मने॥

इस महत्वपूर्ण काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ के अध्ययन से हम इस ओर आकृष्ट हुए। कारिकाओं के द्वारा विषय का स्पष्ट प्रतिपादन प्रसिद्ध उदाहरणों के द्वारा अध्येता को सहज ही आकृष्ट कर लेता है। इस प्रकार के विलक्षण मौलिक एवं पारम्परिक ग्रन्थ का उद्धार आवश्यक है।

अलंकारसमुद्ग के विषय :-

'अलंकारसमुद्ग' का अर्थ है—अलंकारों की पौती (तृणपेटिका)। थोड़े ही जगह में प्रचुर अलंकारों का समावेश हो इस ग्रन्थ का उद्देश्य है। इस तरह इस पुस्तक का विषय अलंकारों का विवेचन ही है। अलंकारों के दो वर्गों के अनुसार ही इस ग्रन्थ में दो समुच्चय हैं— (१) शब्दालङ्कारसमुच्चय

और (२) अर्थालङ्कारसमुच्चय। इस ग्रन्थ के रचयिता इन्द्रपति उपाध्याय काव्यप्रकाशकार मम्मट के अनुयायी हैं। इन्होंने उतने ही अलंकारों को लिया है जितने कि काव्यप्रकाश में हैं और अलंकारों का क्रम भी वही रखा है।

इसमें पाँच शब्दालंकार वक्रोक्ति, अनुप्रास, यमक, श्लेष और पुनरुक्त-वदाभास वर्णित हैं। मम्मट द्वारा प्रदर्शित चित्रालंकार को इन्होंने छोड़ दिया है। अर्थालंकारसमुच्चय में इन्होंने अर्थालंकारों की सूची कारिकाबद्ध दी है, जो गोविन्द ठक्कुरकृत काव्यप्रदीप में भी इसी शैली में देखी जाती है। इन अर्थालंकारों की संख्या ६१ एवं रस पर आधारित चार अलंकारों को मिलाकर ६५ अर्थालंकार वर्णित हैं।

यहाँ मम्मट के लक्षण को भी स्पष्ट एवं परिष्कृत देखा जाता है और अलंकारों के भेदों को जहाँ मम्मट ने केवल उदाहरण से ही समझाया है, वहाँ इन्द्रपति ने सभी भेदों और उपभेदों को लक्षण द्वारा समझाकर ही उदाहरण प्रस्तुत किया है। इस रूप में इसके विषय-व्यापक हो जाते हैं। इनके द्वारा प्रस्तुत अर्थालङ्कारों की सूची निम्नांकित है :—

उपमा, अनन्वय, उपमेयोपमा, उत्प्रेक्षा, ससन्देह, रूपक, अपहुति, श्लेष, समासोक्ति, निदर्शना, अप्रस्तुत-प्रशंसा, अतिशयोक्ति, प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त, दीपक, तुल्ययोगिता, व्यतिरेक, आक्षेप, विभावना, विशेषोक्ति, यथासंख्य, अर्थान्तरन्यास, विरोधाभास, स्वभावोक्ति, व्याजस्तुति, सहोक्ति, विनोक्ति, परिवृत्ति, भाविक, काव्यलिङ्ग, पर्यायोक्त, उदात्त, समुच्चय, पर्याय, अनुमान, परिकर, व्याजोक्ति, परिसंख्या, कारणमाला, अन्योन्य, उत्तर, सूक्ष्म, सार, असंगति, समाधि, सम, विषम, अधिक, प्रत्यनीक, मीलित, एकावली, स्मृति, भ्रान्तिमान्, प्रतीप, विशेष, तद्गुण, अतद्गुण, व्याघात, संसृष्टि और संकर। रसवत्, प्रेयान्, उर्ज्जस्वी और समाहित ये चार रसाधारित अलंकार हैं।

इनमें से व्यतिरेकालंकार तक कुल १७ अलंकार ही इस ग्रन्थ के उपलब्ध अंश में प्राप्त हैं।

अलंकारों के इन्द्रपतिकृत लक्षणों की ग्रन्थान्तर से तुलना

आचार्य इन्द्रपति ने अपने अलंकार-समुद्ग में अलंकारों का लक्षण कुशलतापूर्वक सुबोधरीति से दिया है। इसमें इन्हें कितनी सफलता मिली है, कितने नये तथ्य इनके द्वारा सामने आये हैं, पूर्वाचार्यों से इन्हें कितनी मदद मिली है, तथा परवर्त्ती आचार्य इनसे कितने प्रभावित हुए, इन तथ्यों की जानकारी हेतु इनके द्वारा प्रदर्शित लक्षणों से काव्यशास्त्रीय अन्य ग्रन्थों में प्रदत्त लक्षणों की तुलना आवश्यक है। तुलना ऐसी चीज है जिससे अनेक नये विषय दृष्टि पर आते हैं। अतः इस अध्याय में अलंकारों के लक्षणों का तुलनात्मक विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है।

(१) वक्रोक्ति :–

इसके लक्षण में[1] मम्मट और वेर्णादत्त ने[2] अन्यथा वाक्य को अन्यथा योजन अन्य के द्वारा जहाँ हो ऐसा कहा है, जबकि विश्वनाथ ने[3] अन्यथा-वाक्य के स्थान में 'अन्यार्थकवाक्य' रख दिया है। पर इससे न तो विषय स्पष्ट होता है और न ही पूरा क्षेत्र ही पकड़ा जाता है। "धन्या केयं"[4] श्लोक में अन्यार्थक वाक्य न रहने पर भी वक्रोक्ति विद्यमान है। अतः इन्द्रपति ने पूर्ण स्पष्ट करते हुए कहा है कि वक्ता के भिन्न तात्पर्य वाले वाक्य को श्रोता उससे भिन्न तात्पर्य लगावे तो वहाँ वक्रोक्ति होती है। इस प्रकार यहाँ वक्ता और श्रोता शब्द दे देने से स्पष्टता आ गयी और तात्पर्य दे देने से उपर्युक्त उदाहरण में दोष नहीं हुआ।

---

१ काव्यप्रकाश—९, का०—७८।

२ अलंकारमंजरी—५।

३ साहित्यदर्पण—१०, ९।

४ मुद्राराक्षसनाटकम्—नान्दीपद्य।

मम्मट, इन्द्रपति और वेणीदत्त ने सर्वप्रथम वक्रोक्ति का ही निरूपण किया है जबकि विश्वनाथ ने पाँचवें नम्बर पर इसे रखा है। मम्मट आदि का वक्रोक्ति को प्रथम रखने में कुछ विशेष अभिप्राय है[1]। प्राचीन आलंकारिक भामह एव कुन्तक[2] वक्रोक्ति को सभी अलंकारों का मूल तथा काव्य-सर्वस्व मानते हैं। भामह ने लिखा है—

सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविभिः कार्यः कोऽलङ्कारोऽनया विना॥
(काव्यालङ्कार - भामह – २,८५)।

इस तरह प्राचीनाचार्यों ने वक्रोक्ति को अत्यन्त व्यापक अर्थ में लिया है। वाणी की वक्रता (उक्ति वैचित्र्य) से असामान्य विलक्षण वाणी (अलौकिक चमत्कार युक्त) अभिप्राय रखने पर सचमुच वक्रोक्ति सम्पूर्ण काव्य-जगत पर छा जाती है। पर मम्मट ने उसका ऐसा व्यापक अर्थ नहीं लेकर उसे एक शब्दालंकार तक ही सीमित रखा है।

सभी आचार्यो ने वक्रोक्ति के दो भेद श्लेष एवं काकु किये हैं और श्लेष के सभङ्ग एवं अभङ्ग भेद बाद में दिखाया है। पर इन्द्रपति ने एक ही बार में इसे अभङ्गश्लेषमूला, सभङ्गश्लेषमूला एवं काकुमूला इस तीनों भेदों में विभक्त कर दिया है।

२ *अनुप्रास*—

इन्द्रपति ने मम्मट की कारिका एवं वृत्ति को समेटते हुए अनुप्रास का लक्षण स्वर के सादृश्य या असादृश्य में व्यञ्जन का साम्य ही किया है। साहित्य दर्पण में शब्दसाम्य को अनुप्रास कहा गया है। ([3]अनुप्रासः शब्द-साम्यं वैषम्येऽपि स्वरस्य यत्।) अनुप्रास के प्रसंग में इन्द्रपति ने 'वर्णसाम्यम्' इतने ही लक्षण आवश्यक माना है और वर्ण शब्द से केवल व्यञ्जन को

१ काव्यप्रकाश - शशिकला हिन्दी व्याख्या - पृ० – ३०७।

२ वक्रोक्ति-जीवित – १, ७।

३ साहित्यदर्पण – १०, ३

गृहीत करके स्वरों को मात्रा कहा है। इस प्रकार 'वैषम्येऽपि स्वरस्य' अंश लक्षण न होकर स्पष्टार्थप्रतिपादक ही रह जाता है।

मम्मट ने अनुप्रास के दो भेद किये हैं— छेकानुप्रास और वृत्त्यनुप्रास। इसके बाद उन्होंने लाटानुप्रास का स्वतन्त्ररूप से लक्षण दिया है। इन्द्रपति ने इनके आशय को स्पष्ट करते हुए कहा है कि पहले अनुप्रास के दो भेद हैं - वर्णानुप्रास और पदानुप्रास, जिनमें अन्तिम का ही नाम[४] लटानुप्रास है जिसके पाँच भेद किये गये।

चन्द्रलोककार जयदेव ने अनुप्रास - सामान्य का लक्षण न देकर पाँच प्रकार के अनुप्रास को लक्षित किया है— छेक, वृत्ति, लाट, स्फुट और अर्थ। साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने अनुप्रास के लक्षण में व्यञ्जन-साम्य कहकर [५]एकस्थानजन्यत्व रूप से साम्यत्व स्वीकृत किया, जबकि मम्मट ने कत्व-खत्वादि रूप से ही साम्य माना था। अतएव विश्वनाथ ने श्रुत्यनुप्रास भी माना है जो मम्मट के मत से अनुप्रास नहीं है। दर्पण के अनुसार छेक, वृत्ति, श्रुति, अन्त्य और लाट ये पाँच भेद अनुप्रास के होते हैं।

इन पाँचों भेदों में श्रुत्यनुप्रास एकोच्चारणस्थानजन्य वर्णों की आवृत्ति को कहा जाता है, जो मम्मट के मत से अलंकार नहीं है तथा इसमें सहृदयों को कोई विशेष चमत्कार नहीं प्रतीत होता है। दूसरी बात यह है कि यदि यहाँ स्थानसाम्य लेते हैं तो प्रयत्नसाम्य भी लेना आवश्य होगा। अतः कत्वादि धर्म से ही साम्य मानना उचित होगा, जैसा कि अलंकारसागर-कार महावैयाकरण दीनबन्धु झा ने लिखा है[६] :—

"व्यञ्जन-साम्य अनुप्रास थिक से सर्वसम्मत सिद्ध अछि। ताहि में सम्य व्यञ्जनत्वव्याप्य श्रूयमाण कत्वादि धर्ममात्र लेब उचित, कारण ओहो में लाघव अछि तथा ओही सँ चमत्कार अनुभूत अछि। यदि एकस्थानजन्यत्व-धर्महु सँ साम्य लेल जाय तँ एकप्रयत्नत्व सं किएक नहि ? अतः काव्यप्रकाश में उपेक्षित श्रुत्यनुप्रास समुचित नहि"।

---

४ अलकार समुद्ग – १४।
५ साहित्य दर्पण – १०, ५।
६ अलंकार सागर – पृ० – १२४।

अन्त्यानुप्रास जो स्वरव्यञ्जनसमुदाय की आवृत्ति रूप होता है, वह यमकालंकार का ही एक भेद माना जा सकता है, क्योंकि यहाँ भी समानार्थक वर्णसमुदाय में अन्त्यानुप्रास इष्ट नहीं है। इसी प्रकार कुछ विद्वानों द्वारा स्वीकृत आद्यानुप्रास[७] भी मान्य नहीं है।

३ यमक—

यमक के लक्षण में मम्मट और विश्वनाथ ने समान बातें ही कही है कि यदि अर्थ रहे तो भिन्नार्थक वर्णसमुदाय के उसी क्रम में आवृत्ति को यमक कहते हैं। यहाँ 'सत्यर्थें' पद से आचार्य यह कहना चाहते हैं कि यदि अर्थ रहे तो भिन्न' और यदि न रहे तो भी यमक होगा। पर उनके शब्द से तो यही आता है कि अर्थ रहे तो अलंकार हो और न रहे तो नहीं। यहाँ 'वर्ण' से स्वर व्यञ्जन लेते हैं और 'उसी क्रम से' ऐसा विशेषण देते हैं। इस लक्षण विस्तार को समेट कर इन्द्रपति ने 'सजातीयनुपूर्वीक-द्वितीय-शब्द-संश्रुति' को नैरर्थक्य या अर्थभेद दोनों स्थिति में यमक कहते हैं। यहाँ सजातीय से स्वर-व्यञ्जनसाम्य लेते हैं और आनुपूर्वीक में 'उसी क्रम से' अर्थ लेते हैं। नैरर्थक्य कह देने से स्पष्टता आ जाती है। अतएव वेणीदत्त ने इसी लक्षण को अपना लिया है, पर वे पूर्णतः सफल न हो सके—

"सजातीयानुपूर्वीक - द्वितीयेन पदेन च।
भिन्नार्थबोधकं प्राहु र्यमकं बहुसंज्ञकम्"[८] ॥

मम्मट, विश्वनाथ आदि ने यमक के भेदों के प्रति उदासीनता दिखलायी है। उनका कहना है कि ये भेद सब काव्य के अन्तर्गत [९]खटकने वाले हैं। पर प्राचीन आचार्य रुद्रट[१०] आदि ने इसका पूर्ण विवेचन किया है। इन्द्रपति ने इसके मुख, प्रतिमुख आदि आठ भेद दिखाये हैं।

---

७ अलंकारदर्पण- (मैथिली) – पं० सीताराम झा – भाग–१, पृ०–११।

८ अलंकारमञ्जरी – २३।

९ "तदेतत्काव्यान्तर्गडुभूतम्" – काव्य प्रकाश – सू० – ११८।

१० रुद्रटालंकार — ३, ५६।

४ श्लेष—

भामह और दण्डी के मतों में श्लेष एक अर्थालङ्कार है, शब्दालंकार नहीं। यह उपमा आदि अलंकारों का पोषक होता है—

"श्लिष्टमिष्टमनेकार्थमेकरूपान्वितं वचः।
तदभिन्नपदं भिन्नपदप्रायमिति द्विधा" ।।[11]
"उपमानेन यत्तत्त्वमुपमेयस्य साध्यते।
गुणक्रियाभ्यां नाम्ना च श्लिष्टं तदभिधीयते" ।।[12]

उपर्युक्त लक्षण में श्लेष के भिन्नपद एवं अभिन्नपद ये दोनों भेद उपमादि अर्थालंकारों के पोषक होने से अर्थालंकार के ही हैं।

आचार्य रुय्यक[13] एवं रुद्रट[14] श्लेष को शब्दालकार एवं अर्थालङ्कार मानते हैं। रुय्यक ने सभंग को शब्दश्लेष और अभंग को अर्थश्लेष कहा है, पर मम्मट ने इन दोनों को शब्दश्लेष ही कहा है और इससे भिन्न ही अर्थश्लेष को स्वीकारा है। इन दोनों मतों के मूल अलंकारव्यवस्था के सिद्धान्त का अन्तर ही है। रुय्यक ने [15]आश्रयाश्रयिभाव को अलंकार-व्यवस्था का सिद्धान्त बताया है, जबकि मम्मट के मत से[61] अन्वय-व्यतिरेक को ही उसका श्रेय है। अब अन्वय-व्यतिरेक से पर्यायपरिवृत्तिसहत्व रहने पर ही अर्थालंकार और उसके न रहने पर शब्दालंकार सिद्ध होने पर सभंग एवं अभंग दोनों शब्दालंकार ही सिद्ध होते हैं।

इन्द्रपति ने मम्मट के कारिका एवं वृत्तिभाग को समेटते हुए सभी विषय सरल एवं स्पष्ट रीति से कारिकाओं में ही व्यक्त कर दिया है। अन्य अलंकारों के पोषक होने पर भी प्राचीन आलंकारिक श्लेष को ही मुख्य

११ काव्यादर्श — २, ३१०।
१२ भामहालंकार — ३, १४।
१३ अलंकार सर्वस्व – पृ० – १२४।
१४ रुद्रटालंकार — ४, १, २।
१५ अलंकार सर्वस्व – पृ० – १२४।

मानते हैं, पर मम्मट के अनुयायी इन्द्रपति वहाँ श्लेष को गौण तथा उपमादि को मुख्य मानते हैं। रुय्यक [१६]श्लेष को 'अनवकाश' मानकर अन्य अलंकारों को सावकाश बता कर श्लेष को अपवाद कहते हैं। पर इन्द्रपति ने श्लेष का क्षेत्र स्वतन्त्र स्थापित करते हुए उद्भट सम्मत[१७] एकप्रयत्नोच्चार्यता के सिद्धान्त की आवश्यकता को निर्मूल कह दिया है, क्योंकि काव्य में उदात्तादिस्वरभेद की विवक्षा ही नहीं रहती है[१८]।

मम्मट का श्लेष विचार अपनी गहनता के लिए प्रसिद्ध है, जिसे इन्द्रपति ने कारिकाओं के द्वारा इतना सरल बना दिया है कि सहज ही में विषय हृदयंगम हो जाते हैं। इनके लक्षणों की ही तुलना कर देखा जा सकता है—

मम्मट[१९]— प्राच्यभेदेन भिन्ना यद् युगपद्भाषणस्पृशः ।
शिलष्यन्ति शब्दाः श्लेषोऽसावक्षरादिभिष्टधा ॥

इन्द्रपति[२०]— एकोच्चारणतो यत्र भिन्नार्थप्रतिपादकः ।
शब्दो भवति स श्लेषोऽलङ्कारः समुदाहृतः ॥

इसी स्पष्टता के आकर्षण से कवि वेणीदत्त ने इसी लक्षण को अपना लिया है।[२१]

५ पुनरुक्तवदाभास—

मम्मट के लक्षण को परिष्कृत करते हुए इन्द्रपति ने इसका लक्षण गद्य में ही दिया है, जो मूल हस्तलेख में टिप्पणी रूप में दिया है। मलूम पड़ता है कि ग्रन्थकार ने चित्र और पुनरुक्तवदाभास को छोड़ दिया था। [२२]अतएव इन्द्रपति के अनुयायी वेणीदत्त ने इन दोनों का लक्षण नहीं दिया है। पर

---

१६ अलंकार सर्वस्व — पृ० — १३२ ।
१७ काव्यालंकारसारसंग्रह — ४, ६, ६० ।
१८ 'काव्यमार्गे स्वरो न गण्यते' — कवि प्रसिद्धि ।
१९ काव्य प्रकाश — ८४ ।
२० अलंकार समुद्ग — का० — ३२ ।
२१ अलंकार मञ्जरी — श्लोक — २६ ।
२२ अलंकारमंजरी — पृ० — १ ।

टिप्पणीरूप में ही सही, पुनरुक्तवदाभास का जो लक्षण यहाँ नपे तुले सुबोध शब्द में दिया गया है, वह अन्यत्र नहीं देखा जाता है।

६ *उपमा*—

सादृश्य उपमा है, पर चमत्कारजनक ही। अन्यथा 'गोसदृशगवय' यहाँ भी उपमा हो जायगी। यह सादृश्य दो पदार्थों (उपमान और उपमेय) में हो रहना चाहिए, अन्यथा स्व में स्व का सादृश्य अनन्वय स्थल में उपमा की अतिव्याप्ति हो जायगी। अतएव मम्मट ने 'साधर्म्यमुपमा भेदे' ऐसा लक्षण किया है[२३]। चन्द्रालोककार ने भी[२४] 'द्वयोः' कह कर अनन्वय से उपमा को अलग कर लिया है।

आचार्य विश्वनाथ ने चार विशेषण से चार अलङ्कारों से उपमा को पृथक् रखा है। 'वाच्य' कहने से रूपक, अवैधर्म्य (विरुद्ध धर्म से रहित अर्थात् यत्किंचित् भी न्यूनाधिक्य न हो) कहने से व्यतिरेक, [२५]वाक्यैक्य (एक वाक्यस्थ) कहने से उपमेयोपमा तथा द्वयोः कहने से अनन्वय को बचा लिया है। पर, जहाँ उपमेय को उपमान रूप में कहा है ऐसे प्रतीपालंकार स्थल में उपमा की अतिव्याप्ति रह जाती है। यथा 'तेरे मुख के समान चन्द्र है'। इसे बचाने हेतु 'अविपर्यस्त उपमेयोपमान-भाववाला' ऐसा विशेषण लगा देंगे[२६]। इस प्रकार उपमा का लक्षण इस प्रकार परिष्कृत किया गया है[२७] :—

"चमत्कारजनक, एकसाधारणधर्मप्रयुक्त, परस्परसादृश्यभिन्न, वाच्य, अनुक्तवैधर्म्यक, अविपर्यस्तोपमेयोपमानभावक, अन्य में अन्य का सादृश्य उपमा है"।

अब प्रश्न है कि यदि वाच्य सादृश्य ही उपमा है तो "आपका मुख चन्द्रमा को जीत रहा है"— यहाँ सादृश्य कथित नहीं है, तो उपमा कैसे मानी जाती है। इसके सावधान में 'सत्य या आरोपित[२८]' विशेषण दिया

---

२३ काव्यप्रकाश — सू० — १२५।

२४ चन्द्रालोक — ५, ११।

२५ साहित्यदर्पण — १०, १४।

२६ अलंकारसागर — पृ० — ६।

२७ अलंकारसागर — महावैयाकरण दीनबन्धु झा — पृ० — ६।

२८ अलंकारसमुद्ग — ६५।

गया है। अथवा यहाँ चन्द्रजय वाधित होकर सादृश्य में ही पर्यवसन्न हो जाता है।

[२९]इन्द्रपति ने भिन्नत्व शब्द से अनन्वय को, प्रकृताप्रकृत से रूपक, अपह्नुति, प्रतीप आदि को, साधर्म्य शब्द से व्यतिरेक, उपमेयोपमा आदि को और 'सत्यमारोपितं' से असंभव को छाँटकर इसका परिष्कृत लक्षण किया है जो इनके कोई भी पूर्वाचार्य नहीं कर सके थे। इन्होंने चमत्कारजनक विशेषण इसलिये नहीं दिया कि यह तो सभी अलंकारसामान्य के लक्षण में ही सुन्दरत्व रूप से निवेशनीय है।

उपमा के प्रसंग में महावैयाकरण दीनबन्धु झा ने[३०] नवीन विचार उपस्थित किया है :

व्यंग्य वा वाच्य व्यतिरेकादिविषयाक्रान्त वा तदनाक्रान्त भेदघटित सादृश्य उपमा है। सादृश्यमूलक व्यतिरेकादि के विषय में अविरोध के कारण उनसे बाध्य-बाधक-भाव भी नहीं है। उनके साथ उपमा का समावेश स्वीकार है। पर रूपकादि के अतिशय चमत्कार से उपमा का चमत्कार वहाँ झँप जाता है जैसे तारागण के रहने पर भी सूर्य के प्रकाश में वे नहीं दीख पड़ते हैं। यदि उपमा के लक्षण में वाच्यत्व निवेश कर देते हैं तो उपमाध्वनि का उच्छेद हो जायगा।

७ अनन्वय—

एक वाक्यस्थ एक ही शब्द यदि उपमान और उपमेय हो जाय तो अनन्वय अलंकार होता है— [३१]यह मम्मट का लक्षण है। चन्द्रालोककार ने अक्षरशः मम्मट के लक्षण को मान लिया है। विश्वनाथ भी इस से पूर्ण सहमत हैं। इन्द्रपति ने जरा स्पष्ट करते हुए ऐसा ही कह दिया है।

यद्यपि सादृश्य व्यवहार अन्य में ही होता है, क्योंकि सादृश्य भेदघटित होता है, तथापि अनन्वय में आरोपित तत्सादृश्य द्वितीयसादृश्यव्यवच्छेदार्थ

२९ अलंकारसमुद्ग — ६५।

३० अलंकारसागर — पृ० — २६ - २८।

३१ काव्यप्रकाश — १०, सू० — १३५।

ध्वनन द्वारा चमत्कार उत्पन्न करता है और इसी के चलते उपमा से इसमें विलक्षण चमत्कार होता है।[३२]

यदि स्व में स्वसादृश्यकथनमात्र से इतरसादृश्यनिषेध व्यज्यनमान हो तो अनन्वय अलंकार होता है, यथा—

"रामरावणयो र्युद्धं रामरावणयोरिव"। पर, जहाँ स्पष्ट शब्द से इतरसदृशाभाव प्रतिपादित हो तो वहाँ असम नामक अलंकार होता है, यथा— "रामचन्द्रसमो राजा न भूतो न भविष्यति"।

८ उपमेयोपमा—

प्रकाशकार के अनुसार[३३] उपमान और उपमेय के विपर्यास (परिवर्त्तन) अर्थात् उपमानोपमेयभाव को उपमेयोपमानभाव के रूप में बदलने को उपमेयोपमा कहा जाता है। इन्होंने वृत्ति में स्पष्ट कर दिया है कि यह तभी सम्भव है जब दो वाक्य में उपमाबन्ध हो। इन्द्रपति ने भी लगभग ऐसा माना है। जयदेव ने जरा स्पष्ट कर दिया है – "पर्यायेण द्वयोस्तच्चेदुपमेयोपमा मता"[३४] जिसे विश्वनाथ ने अपना लिया है[३५]।

यहाँ तृतीयसादृश्यव्यवच्छेद हो जाता है, अर्थात् इन दोनों के सिवा तीसरा एतत्तुल्य नहीं है।

९ उत्प्रेक्षा—

प्रकृत का अप्रकृत से संभावना करना उत्प्रेक्षा है ऐसा लक्षण प्रकाश-दर्पण-चन्द्रालोक के अनुसार है[३७]। प्रदीपकार ने प्रकाश के आशय को प्रकाशित करते हुए लिखा है –

"प्रकृतस्य संभाविनोऽर्थस्य समेन असंभाविता सह एकरूपतया यत्संभावनं तदुत्प्रेक्षालंकार इत्यर्थः"[३६]।

इन्द्रपति ने इसका स्वतन्त्र ही लक्षण दिया है। ये कहते हैं कि उपमेय

---

३२ अलंकारसागर — पृ० – ३२।

३३ काव्यप्रकाश — १०, ५।

३४ चन्द्रालोक — ५, १३।

३५ साहित्यदर्पण — १०, २७।

३६ काव्यप्रदीप — १०, ६।

(वर्णनीय) के सन्देह में उपमान की ओर अतिशय झुकाव के स्थल में उत्प्रेक्षा होती है,[37] अन्यथा सन्देहालंकार हो जाता है।[38]

१० सन्देह—

[39]प्रदीपकार के अनुसार ससन्देहालंकार का लक्षण है संशय और इसके भेद हैं— भेदोक्ति और अभेदोक्ति। इसी के अनुसार इन्द्रपति की कारिका है। प्रकृत और अप्रकृत का प्रतिभोत्थित संशय ही सन्देहालंकार है— ऐसा विश्वनाथ ने कहा है।[40]

११ रूपक—

प्रकाशकार ने[41] उपमान और उपमेय के अतिशय अभेद को रूपक कहा है। अतिसाम्य होने से ही अपह्नुति से इसका भेद स्पष्ट हो जाता है। चन्द्रालोक में इसे अत्यन्त स्पष्ट कर दिया गया है— [42]उपमेय रूपी भित्ति को जहाँ उपमानरूपी चित्र से सर्वथा भर दिया जाता है, वहाँ रूपक अलंकार होता है। विश्वनाथ ने [43]यहाँ अपह्नुतिरहित विशेषण ही दे दिया है जिसे मम्मट से अच्छा नहीं कहा जा सकता है। काव्यप्रदीपकार ने[44] प्रकाशोक्त 'अभेद' का अभेदारोप अर्थ किया है और उसका बीज अतिसाम्य बतला कर अतिशयोक्ति एवं अपह्नुति से रूपक को हटा लिया है। उन्हीं के आशयों को लेकर इन्द्रपति ने अपनी कारिका ग्रथित की है जिसे वेणीदत्त ने अविकल अपना लिया है।[45]

---

३७ अलंकारसमुद्ग — १०७।
३८ उपमेय उपमानस्योत्कटैककोटिकशंकेव सम्भावनालक्षणोत्प्रेक्षेति सारम्— कविशेखर बदरीनाथ झा – अलंकारमंजरी (टिप्पणी) – पृ० – १०।
३९ काव्यप्रदीप — पृ० – ३२४।
४० साहित्यदर्पण — पृ० – ८५८।
४१ काव्यप्रकाश पृ० – ३५७।
४२ चन्द्रालोक — ५, १८।
४३ साहित्यदर्पण — पृ० – ८३९।
४४ काव्यप्रदीप — पृ० – ३२६।
४५ अलंकारमंजरी — पृ० – ११।

१२ अपह्नुति—

इस अलंकार के विषय में मम्मट और विश्वनाथ[४६] का लक्षण लगभग समानतथ्य पर ही है। प्रदोपकार ने उसकी जो स्पष्टता दिखायी है, उसे ही समेटकर इन्द्रपति ने लक्षण को सजाया है।

[४७]"प्रकृतं यन्निषिध्यान्यत् साध्यते सा त्वपह्नुतिः" ॥
(काव्यप्रकाश)।

"प्रकृतमुपमेयं निषिध्य असत्यतया व्यवस्थाप्य अन्यदप्रकृतमुपमानं यत्साध्यते सत्यतया व्यवस्थाप्यते सा अपह्नुतिः"। (काव्यप्रदीपः–पृ०–३३२)।

"उपमेयं व्यवस्थाप्य यत्रासत्यतया पुनः।
उपमानस्य सत्यत्वकथनं स्यादपह्नुतिः" ॥
(अलंकारसमुद्ग – १२३)।

१३ अर्थश्लेष—

"श्लेषः स वाक्य एकस्मिन् यत्रानेकार्थता भवेत्" ॥[४८]
(काव्यप्रकाश – १०, १०)।

"परिवृत्तिसहानामेव शब्दानामेकवृन्तफलद्वयन्यायेन यत्र अनेकार्थप्रतिपादकता सोऽर्थश्लेषः"। (काव्य प्रदीप – पृ० - ३३३)।

"परिवृत्तिसहः शब्द एको यत्रार्थयो र्द्वयोः।
बोधको भवति श्लेषोऽलंकारः समुदाहृतः"[४९] ॥१२८॥

उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि इन्द्रपति ने काव्यप्रदीप के आशयों को निःसंकोच ले लिया है।

---

४५ साहित्यदर्पण — पृ० – ८६६।

४७ काव्यप्रकाशः — १०, १०।

४८ काव्यप्रकाशः — १० १०।

४९ अलंकादसमुद्ग — १२८।

१४ समासोक्ति—

इस अलंकार के प्रसंग में इन्द्रपति ने [५०]काव्यप्रकाश से मुख मोड़ कर साहित्यदर्पण का सहारा लिया है। [५१]लक्षणसाम्य के अलावे उदाहरण भी साहित्यदर्पण से ही लिया है। मम्मट ने प्रकृतार्थक श्लिष्ट विशेषणवाचिशब्द मात्र से अप्रकृतार्थवचन को समासोक्ति कहा है। विश्वनाथ के अनुसार प्रस्तुत में साधारणकार्य, लिङ्ग एवं विशेषण के द्वारा अन्य (अप्रस्तुत) वस्तु के व्यवहार का आरोप करना ही समासोक्ति है। सुबोध शैली में इन्द्रपति ने भी यही कहा है।

१५ निदर्शना -

निदर्शना के लक्षणों में प्रथम एवं द्वितीय लक्षणों का निरूपण इन्द्रपति ने प्रकाश के अनुसार किया है,[५२] जब कि तृतीय का दर्पण के अनुसार[५३]। चन्द्रालोक में पहली निदर्शना ही मानी गयी है— "वाक्यार्थयोः सदृशयोरैक्यारोपो निदर्शना"[५४]।

निदर्शना दो प्रकार की होती है— संभवद्वस्तुसंबन्धा और असंभवद्वस्तुसम्बन्धा। इसके पदार्थवृत्ति और वाक्यार्थवृत्ति भेद भी होते हैं और यह मालारूपा भी होती है।

१६ अप्रस्तुतप्रशंसा—

इसका लक्षण मम्मट, जयदेव और इन्द्रपति का समान ही है, केवल शाब्दिक अन्तर है[५५]। साहित्यदर्पण में इसके सामान्यलक्षण न देकर पाँचों भेदों के ही लक्षण दिये हैं[५६]। जहाँ अप्रस्तुत वस्तु के कथन से प्रस्तुत का

---

५० काव्यप्रकाशः — १०, ११।

५१ साहित्यदर्पणः — पृ० — ६२७।

५२ काव्यप्रकाशः — १०, ११।

५३ साहित्यदर्पणः — पृ० — ६१०।

५४ चन्द्रालोकः — ५, ५८।

५५ अलंकारसमुद्ग — १३६। ५६ साहित्यदर्पण — पृ० — ६४४।

उत्कर्ष बोध हो वहाँ यह अलंकार होता है। प्रदीपकार ने समासोक्ति से इसका पार्थक्य दिखलाते हुए कहा है – "अप्राकरणिकेन प्राकरणिकाक्षेपोऽ-प्रस्तुतप्रशंसा, प्राकरणिकेनाप्राकरणिकाक्षेपः समासोक्तिरिति विवेकः" ।[५७]

१७ अतिशयोक्ति—

[५८]मम्मट ने चार प्रकार के अतिशयोक्ति का पृथक्-पृथक् लक्षण देकर कहा है कि ये सभी अतिशयोक्ति हैं। जयदेव ने छः प्रकार के अतिशयोक्ति को कहा है[५९]। विश्वनाथ ने अतिशयोक्ति का सामान्य लक्षण देकर इसके पाँच भेद लक्षित किये हैं। उनका लक्षण हैं— 'सिद्धत्वेऽध्यवसायस्यातियोक्ति र्निगद्यते"[६०]। विषय के विना कहने ने आरोप के निश्चयात्मक होने पर अतिशयोक्ति होती है। विषय शब्द से उपमेय तथा विषयी शब्द से उपमान का ग्रहण प्रसिद्ध है। अतः उक्त लक्षण के अनुसार अतिशयोक्ति में उपमानो-पमेयभाव आवश्यक हो जाता है और वह भी प्रसिद्ध ही होना चाहिए। अब प्रश्न है कि यह लक्षण – [६१]"अन्यदेवाङ्गलात्रण्यम्" में कैसे संगत हो सकता है, क्योंकि यहाँ उक्तभाव जरा भी नहीं है। यदि उक्त लक्षणघटक विषय-शब्द से आरोपविशेष्य अर्थात् जहाँ अभेदारोप हो, वह कहीं उपमेय तथा कहीं अन्य भी रह सकता है ऐसा मान कर उक्त दोष का समाधान कर भी लेते हैं, फिर भी "अन्यदेवाङ्गलावण्यम्" में कथित अंगलाण्य में ही अन्यत्वाध्यवसाय चमत्कारजनक है, अनुपात्त (अकथित) लावण्यभेद मे लावण्यभेदाध्यवसाय नहीं। [६२]अतः ऐच्छिक कष्टकल्पना कर यथाकथंचित् सामान्यलक्षण करना उचित नहीं। दूसरी बात यह है कि विश्वनाथ ने एक अन्य प्रकार की अति-शयोक्ति भी मानी है जो सम्बन्ध में असम्बन्ध एवं असम्बन्ध में सम्बन्ध रूप होती है, वह भी उनके सामान्य लक्षण के अन्तर्गत नहीं आती है।

इन सबों को एक लक्षण के द्वारा आचार्य इन्द्रपति ने स्वतन्त्र ढंग से एक

---

५७ काव्यप्रदीप – पृ० – ३३७। ५८ काव्वप्रकाश – १०, १४-१५।
५९ चन्द्रालोक – ५, ४१–४६। ६० साहित्यदर्पण – पृ० – ८६४।
६१ साहित्यदर्पण – पृ० – ८६७।
६२ अलंकारसागर – महावैयाकरण दीनबन्धु झा – पृ० ८२-८३।

ही अतिशयोक्ति के लक्षण में सभी भेदों को पकड़ लिया है -- भेदज्ञान के विना ही जहाँ निश्चयात्मक आरोप रहे तथा अप्रकृत से अभेद का बोध हो वहाँ यह अलंकार होता है।[६३]

१८ प्रतिवस्तूपमा -

वस्तु का अर्थ है वाक्यार्थ। इस अलंकार में प्रतिवस्तु (प्रतिवाक्यार्थ) में उपमा के एक ही साधारण धर्म के रहने के कारण प्रतिवस्तूपमा नाम पड़ा[६४]। यहाँ इन्द्रपति ने मम्मट के आशय को विश्वनाथ के अनुसार ही स्पष्ट कर दिया है। यहाँ दो वाक्य रहना आवश्यक है। दोनों वाक्यों में साधारण धर्म लेकर ही साम्य हो। दोनों वाक्यों में पृथक् उपयानोपमेय तथा एक ही धर्म के वाचक साधारण धर्म प्रतिपादक शब्द भी पृथक् ही हो।

१९ दृष्टान्त—

दो वाक्यों में एक सामान्य धर्म का तथा उपमान एवं उपमेय का विम्व-प्रतिबिम्व-भाव से अन्वय को दृष्टान्त कहते हैं। प्रतिवस्तूपमा में सामान्यधर्म का प्रतिविम्बन नहीं होता है, जबकि दृष्टान्त में होता है। सभी के प्रति-विम्बन को काव्यप्रकाश में दृष्टान्त कहा गया है,[६५] जबकि चन्द्रालोक में इनके विम्वप्रतिविम्बभाव को ही दृष्टान्त कहा गया है[६६]। दर्पणकार तो[६७] सामान्यधर्म के प्रतिविम्बन को ही कहा है। इन्द्रपति ने विलक्षण ही लक्षण किया है, वे कहते हैं कि ध्यान करने पर ही जहाँ सादृश्य जाना जाय वैसे दो वाक्यों के औपम्य को दृष्टान्त कहते हैं। उनका तात्पर्य है कि यह सादृश्य सामान्यधर्म का हो या, विरुद्धधर्म का पर व्यंग्य हो।[६८]

२० दीपकम्—

दीपक प्रकृत और अप्रकृत में होता है। इसमें अनेक कारकपद एक ही

---

६३ अलंकारसमुद्‌ग – १४७।

६४ प्रतिवस्तु प्रतिवाक्यार्थमुपमासाधारणधर्मो यत्रेति व्युपत्तेः -- काव्य-प्रदीपप्रभा – पृ० – ३४२। ६५ काव्यप्रकाश – १०, १०१।

६६ चन्द्रालोक – ५, ५६। ६७ साहित्यदर्पण – १०, ५०।

६८ अलंकारसमुद्‌ग — १५५, १५६।

क्रिया में अन्वित रहते हैं या अनेक क्रियापद एक ही कारक में अन्वित रहते हैं। मम्मट ने इसका लक्षण किया है—

सकृद् वृत्तिस्तु धर्मस्य प्रकृताप्रकृतात्मनाम् ।
सैव क्रियासु बह्वीषु कारकस्येति दीपकम् ॥[६९]

जयदेव ने भेदों की चर्चा न कर सामान्य लक्षण ही दिया है—

प्रस्तुताप्रस्तुतानां च तुल्यत्वे दीपकं मतम् ।
मेधां बुधः सुधामिन्दु र्विभाति वसुधां भवान् ॥[७०]

कुवलयानन्दकार अप्पयजि दीक्षित ने इसमें कुछ संशोधन कर दिया है-

वदन्ति वर्ण्यावर्ण्यानां धर्मैक्यं दीपक बुधाः ।
मदेन भाति कलभः प्रतापेन महीपतिः ॥[७१]

आचार्य विश्वनाथ ने जयदेव के शब्द में ही संक्षिप्त लक्षण कर भेदों को भी दर्शा दिया है—

अप्रस्तुतप्रस्तुतयो र्दीपकं तु निगद्यते ।
अथ कारकमेकं स्यादनेकासु क्रियासु चेत् ॥[७२]

मम्मट के अनुसार इन्द्रपति ने कुछ स्पष्ट लक्षण दे दिया है, कुछ नवीनता नहीं लाई है- उपमान और उपमेय के धर्मरूप क्रिया का एक हो बार कथन हो तो क्रियादीपक और अनेक क्रियाओं में अन्वित एक ही कारक का कथन कारकदीपक होता है।[७३]

२१ तुल्ययोगिता—

केवल प्राकरणिक या केवल अप्राकरणिक वस्तुओं में एक ही धर्म यदि अन्वित हो तो वहाँ तुल्ययोगिता अलंकार होता है[७४]। जयदेव के अनुसार अनेक वस्तुओं की क्रिया आदि से तुल्यता ही उक्त अलंकार है। इसमें प्रस्तु

---

६९ काव्यप्रकाश – १०, १७।
७० चन्द्रालोक – ५, ५३।
७१ कुवलयानन्द – का० ४८।
७२ साहित्यदर्पण – १०, ४८।
७३ अलंकारसमुद्ग – १५७ - १५८।
७४ काव्यप्रकाश — पृ० – ३८२।

या अप्रस्तुत की चर्चा नहीं है। अतएव कुवलयानन्द में इसे स्पष्ट कर दिया गया है— [७५]"क्रियादिभिरनेकस्य तुल्यता तुल्ययोगिता" ॥ चन्द्रा० ॥

[७६]"वर्ण्यानामितरेषां वा धर्मैक्यं तुल्ययोगिता" – कुव० ॥

साहित्यदर्पणकार ने पूर्ण स्पष्ट शब्दों में इसे स्पष्ट किया है[७७]। इन्द्रपति ने [७८]प्रस्तुत धर्मों में एक धर्म का अन्वय एवं अप्रस्तुत धर्मों में किसी एक धर्म के अन्वय रूप तुल्ययोगिता के दो कक्षण दिये हैं। परन्तु पूर्वाचार्यों के लक्षणों मे भी इन दोनों प्रकारों का उल्लेख है। अतः ये दोनों लक्षण एक ही के दो खण्ड है।

२२ व्यतिरेकः—

उपमान से उपमेय में उत्कर्ष को व्यतिरेक कहते हैं, जैसा कि प्रदीपकार ने इसके नाम की व्युत्पत्ति की है— [७९]"अन्यस्य=उपमेयस्य, व्यतिरेको विशेषेण अतिरेकः=आधिक्यम्" तथा "तस्मादुपमानस्योत्कर्षे व्यतिरेक इति रिक्तं वचः"। उपमान के उत्कर्ष में व्यतिरेक नहीं होता है— यह मम्मट का मत है। चन्द्रालोककार ने दोनों को व्यतिरेक माना है— [८०]"व्यतिरेको विशेषश्चेदुपमानोपमेययोः"। कुवलयानन्द एवं साहित्यदर्पण में इसी का समर्थंन है। विश्वनाथ लिखते हैं— [८१]"अधिक्यमुपमेयस्योपमानान्न्यूनताथवा व्यतिरेकः"। अर्थात् उपमान से उपमेय की अधिकता या न्यूनता व्यतिरेक है।

---

७५ चन्द्रालोक — ५, ५२।

७६ कुवलयानन्दः — पृ० – ६७।

७७ साहित्यदर्पण — पृ० – ६०१।

७८ अलंकारसमुद्ग — १६० - १६१।

७९ काव्यप्रदीप — पृ० – ३४६।

८० चन्द्रालोक — ५, ५६।

८१ साहित्यदर्पण — पृ० – ६१७।

रसगंगाधरकार जगन्नाथ केवल उपमेय के उत्कर्ष में ही व्यतिरेक मानते है, न्यूनत्व में नहीं– 'उपमानादुपमेयस्य गुणविशेषवत्त्वेनोत्कर्षो व्यतिरेकः'[८२]। इन्द्रपति का भी यही मत है। इनका लक्षण स्पष्ट और सर्वजनबोधगम्य है–

आधिक्यमुपमानाद् यद् उपमेयस्य कथ्यते।
तदेव व्यतिरेकाख्यालंकृतिः समुदाहृता[८३] ॥

इनका लक्षण इतना स्फीत है कि लगता है जैसे बोलचाल की भाषा हो। पर, उसका सौष्ठव एवं गणिमा शास्त्रमर्यादित है।

इसके आगे ग्रन्थ-अनुपलब्ध है। यद्यपि अलंकारमंजरीकार ने इनके लक्षण को लेकर उदाहरण रचे हैं और उनका ग्रन्थ पूर्ण मिलता है, फिर भी उनके लक्षणों में कुछ इन से भिन्न[८४] भी पाये जाते हैं और भेदोपभेद की चर्चा नहीं है। अतः उनके लक्षण के आधार पर इन्द्रपति की अन्य अलंकारों के विषय में केवल मान्यता सामने आ सकती है।

---

८२ रसगंगाधर — पृ० – ३६६।

८३ अलंकारसमुद्ग — का० – १६२।

८४ 'तुल्योगिता एवं दृष्टान्त के लक्षण'– अलंकारमंजरी– पृ०-१८ एवं १६।

इन्द्रपति एवं चन्द्रालोक

अलंकारशास्त्र में चन्द्रालोक का एक बहुत विशिष्ट स्थान है। खासकर अलंकारों के विवेचन में उसमें बहुत नवीनता लाई गयी है। प्रथम विशेषता तो यह है कि अनुष्टुप् छन्द के पूर्वार्ध में लक्षण एवं उत्तारर्ध में उदाहरण प्रस्तुत हैं, जो अन्यत्र नहीं थे। इसके द्वारा अल्पसमय में ही अलंकारों के लक्षणोदाहरण कण्ठकर हृदयंगम हो जाते हैं। इसी आकर्षण पर आचार्य अप्पय दीक्षित ने इन्हीं कारिकाओं को लेकर कुवलयानन्द की रचना की[1]। इसकी दूसरी विशेषता है अलंकारों के स्पष्ट एवं सरल स्वरूप का प्रतिपादन। इसकी तीसरी विशेषता है प्रचुर अलंकारों का निरूपण। इन्होंने १०८ अलंकारों को प्रदर्शित किया है।

काव्यप्रकाश के अनुयायी रहने पर भी इन्द्रपति चन्द्रालोक से प्रभावित हैं। सरलता, स्पष्टता एवं संक्षेपण का पाठ इन्होंने चन्द्रालोक से लिया है। यद्यपि ये उससे समान मत नहीं रखते हैं, बहुत स्थल में वैमत्य है, पर जहाँ उसकी स्पष्ता हृदयग्राही हैं, वहाँ ये उसे अपना लेते हैं। यथा - (१) उपमेयोपमा के मम्मटानुसारी लक्षण करने पर भी इन्द्रपति चन्द्रालोक से प्रभावित हैं—

"पर्यायेण द्वयोस्तच्चेदुपमेयोपमा तदा"।[2]

"उपमानोपमेयत्वमुपमानोपमेयता"[3]

इसी प्रकार प्रतिवस्तूपमा का प्रसङ्ग देखा जा सकता है—

"वाक्ययोरर्थसामान्ये प्रतिवस्तूपमा मता"।

—चन्द्रालोक – ५, ५५।

---

१ कुवलयानन्द का० – ५।

२ चन्द्रालोक — ५, १३।

३ अलंकारसमुद्ग — १०६।

"वाक्यद्वये द्वयं यत्र धर्मस्यैकस्य वाचकम्" ।

अलकारसमुद्ग – १५४ ।

निर्दशना के प्रसंग में भी इन्द्रपति चन्द्रालोक से प्रभावित दीख पड़ते हैं-

"वाक्यार्थयोः सदृशयोरैक्यारोपो निदर्शना" ।

चन्द्रालोक – ५, ५८ ।

उपमाकल्पकं वाक्यं ह्यसम्भावितवस्तुनोः ।

शब्दार्थयोः प्रकथनं तदेका स्यान्निदर्शना ॥

(अलंकारसमुद्ग – १३०)

यहाँ असंभावितवस्तु वाली पहली और आगे चलकर संभावितवस्तुवाली दूसरी निदर्शना मानी गयी है, जो चन्द्रालोकसम्मत है।

रूपकालंकार का लक्षण भी इन्द्रपति ने चन्द्रालोक से प्रभावित होकर लिखा है—

'सम्यातिशयतो यः स्यादुपमानोपमेययोः' ।

(अलंकारसमुद्ग – ११०)

चन्द्रालोककार ने इसे इस प्रकार लिखा था—

"यत्रोपमानचित्रेण सर्वथाप्युपरज्यते" – ५, १८ ।

इस प्रकार इन्द्रपति चन्द्रालोक से पूर्ण प्रभावित हैं।

**

इन्द्रपति एवं अलंकारमंजरीकार वेणीदत्त

अलंकारमञ्जरीकार कविवेणीदत्त (१७८०-१८०० ई०) इन्द्रपति के निकटस्थ दायाद थे[१]। ये उनसे लगभग ५० वर्ष बाद उत्पन्न हुए थे। अलंकारमंजरी में इन्होंते किसी आचार्य का नाम तो नहीं लिया है, पर आदि में स्पष्ट कर दिया है कि ये लक्षण पूर्वाचार्यों के रचित हैं, यहाँ उनका लक्ष्य (उदाहरण) प्रस्तुत किया जा रहा है—

"शब्दार्थालकृतीनां तु लक्षणानि मनीषिभिः ।
कृतानि तेषां स्वल्पानि लक्ष्याणीह प्रदर्श्ये"[२] ॥

जब हम इन्द्रपतिकृत अलंकारसमुद्ग से इसकी तुलना करने चलते हैं, तो हम पाते हैं कि ये लक्षण किसो अन्य के नहीं, कुछ परिवर्त्तित रूप में इन्द्रपति के ही हैं। अतः यहाँ आगे हम अलंकारमंजरी के अलंकार लक्षणों को अलंकारसमुद्ग के पाठान्तर के साथ रखेंगे।

शब्दालंकार परिच्छेद में इन्द्रपति ने वक्रोक्ति, अनुप्रास, यमक, श्लेष और पुनरुक्तवदाभास इन पाँच अलंकारों के साथ उपनागरिका, परुषा और कोमला वृत्तियों का विवेचन किया है। वेणीदत्त भी पुनरुक्तवदाभास को छोड़कर इन्हीं सबों का वर्णन इन्द्रपति के अनुसार ही किया है।

अर्थालंकारपरिच्छेद में इन्द्रपति ने काव्यप्रदीप की शैली में अलंकारों की सूची दी है, जिसमें काव्यप्रदीप-परिगणित कारणमाला का नाम नहीं है। ठीक इसी शैली में लगभग इन्द्रपति के ही शब्दों में वेणीदत्त ने भी यही सूची दी है। ज्ञातव्य है कि इन्द्रपति के समान ही इसमें भी कारणमाला का नाम नहीं आया है[३]। विशेष इतना है कि काव्यप्रदीप एवं अलंकारसमुद्ग में

---

१ द्रष्टव्य — इन्द्रपति का परिचय।

२ अलंकारमंजरी - का० – ४।

३ अलंकारमंजरी — पृ० – ७-८।

अनुल्लिखित 'प्रहर्षण' अलंकार नाम परिगणित[४] एवं लक्षित[५] है।

वेणीदत्त ने इन्द्रपतिकृत अलंकारभेद-प्रपंच के विस्तृत चक्कर को छोड़-कर सामान्य अलंकार परिचय ही कराया है। आगे इनके द्वारा कृत लक्षणों का इन्द्रपति से साम्यदर्शनार्थं प्रस्तुत किया जा रहा है, जिससे सिद्ध है कि शेष अलंकार के लक्षण भी इन्द्रपति के अनुसार ही हैं। आज इन्द्रपति का यह अलंकारसमुद्ग अप्राप्त है। वेणीदत्त की अलंकारमंजरी से उनके लक्षणों के स्वरूप जाने जा सकते हैं। यद्यपि वहाँ इन्द्रपति के विस्तृत विवेचन को छोड़ दिया गया है, तथापि अलंकारों के मूललक्षण तो हमें मिल ही जाते हैं। आज हमें इन्द्रपति के इस अपूर्ण ग्रन्थ की शेष मूल कारिकाएँ वेणीदत्त की अलंकारमंजरी में प्राप्त हो जाती हैं। अतः इस ग्रन्थ के परिशिष्ट में आगे के सभी अलंकारों के लक्षण एवं एक-एक उदाहरण हम वेणीदत्त के उक्त ग्रन्थ से लेकर उपस्थापित कर रहे हैं।

वेणीदत्तकृतालंकारमंजर्यां अलंकारलक्षणानि

(इन्द्रपतिकृतालंकारलक्षणसमानानि)

१ — शब्दालङ्काराः

१. वक्रोक्तिः— यदुक्तमन्यथा वाक्यमन्यथान्येन योज्यते ।
वक्रोक्तिः सा परिज्ञेया श्लेषतः काकुतो द्विधा[१] ॥

२. अनुप्रासः— वर्णसाम्यमनुप्रासश्छेकवृत्तिगतो द्विधा[२] ।
छेकोऽनेकेषु वर्णेषु साम्यं स्यात् सकृदेव हि ॥
यदेकस्य तु वर्णस्य समत्वं स्यान्मुहुर्मुहुः ।
तत् प्रोक्तो वृत्त्यनुप्रासो रसविद्याविशारदैः ॥

---

४ अलंकारमंजरी — पृ० — ८ (टिप्पणी)।

५ अलंकारमंजरी — पृ० — २७।

(अलंकारसमुद्ग का पाठान्तर)

१ (कारिका भिन्न)।

२ (तीन पंक्ति के छः चरणों में केवल दो ही यहाँ है)।

(वृत्ति विचारः)

माधुर्यव्यञ्जकैर्वर्णैरुपनागरिका मता ।
ओजःप्रकाशकैः वर्णैः परुषा, कोमला परैः[3] ॥
रीतयस्त्रिविधा ज्ञेयाः काव्ये काव्यविशारदैः[4] ।
एतास्तिस्रोऽथ वैदर्भी गौडी पाञ्चालजाः स्मृताः[5] ॥

३. लाटानुप्रासः– [6]पदार्थयोरभेदे स्याद् योजनामात्रभेदतः ।
विभिन्नशाब्दधी यत्र लाटानुप्रास ईरितः ॥

४. यमकम् — सजातीयानुपूर्वीक - द्वितीयेन पदेन च[7] ।
भिन्नार्थबोधकं प्राहु र्यमकं बहुसंज्ञकम्[8] ॥

५. शब्दश्लेषः – एकोच्चारणतो यत्र भिन्नार्थप्रतिपादकः ।
शब्दो भवति स श्लेषोऽलंकारः समुदाहृतः ॥[9]

२ – अथार्थालङ्काराः

१. उपमा – भिन्नत्वे सति सावर्म्यमुपमानोपमेययोः[10] ।
सत्यमारोपितं वा स्यादुपमा सा प्रकीर्त्तिता ॥

२. अनन्वयः – एकं पदं बोधकं स्यादुपमानोपमेययोः ।
एकवाक्यगतं यत्र तत्रानन्वय उच्यते ॥

३. उपमेयोपमा – [11]उपमानोपमेयत्वमुपमानोपमेयता ।
यदा मिथो भवेदेवमुपमेयोपमा तदा ॥

४. उत्प्रेक्षा – उपमानांश एव स्यात् कोटिरुत्कटतां गतः[12] ।
यत्रोपमेयसन्देह उत्प्रेक्षा सा प्रकीर्त्तिता[13] ॥

---

३ परुषा परिकीर्त्तिता । ४ एवं तु वर्णघटिता रीतयस्त्रिविधा मताः ।
५ पाञ्चालदेशजाः । ६ साम्येऽप्यर्थपदयोः ।
७ द्वितीयशब्दसंश्रुतिः । ८ नैरर्थक्यार्थभेदे वा तामाहुर्यमकं बुधाः ।
९ लंकृतिः समुदाहृता ।
१० साधर्म्यं प्रकृताप्रकृतत्वयोः । ११ प्रकृतस्यो ।
१२ गता । १३ स प्रकीर्त्तितः ।

ध्रुवं नूनमिवप्रायो मन्ये शङ्क पदादयः ।
उत्प्रेक्षावाचकाः शब्दाः काव्यविद्भिरुदीरिताः[१४] ॥

५. सन्देहः — भेदोक्तिसहिता चैकाऽभेदोक्तिसहिता परा ।
एवं द्वैविध्यमापन्ना सन्देहालंकृतिः स्मृता ॥
एको निश्चयगर्भः स्यान्निश्चयान्तः[१५] परस्तु यः ।
भेदोक्तिसहितस्त्वेवं द्विविधः परिकीर्त्तितः ॥

६ रूपकम् — सामम्यातिशयतो यः स्यादुपमानोपमेययोः ।
भेदधीकालिकाऽभेदारूपो[१६] रूपकमुच्यते ॥

७. अपह्नुतिः — उपमेयं व्यवस्थाप्य यत्रासत्यतया पुनः ।
उपमानस्य सत्यत्वकथनं स्यादपह्नुतिः ॥

(छेकापह्नुतिः)— संगोप्योऽपि प्रकटितः केनचिद्धेतुना पुनः ।
योऽर्थस्तस्यापलापो यः सोऽप्यन्योऽपह्नवः स्मृतः ॥

८. अर्थश्लेषः — परिवृत्तिसहः शब्द एको यत्रार्थयो र्द्वयोः ।
बोधको [१७]जायते योऽर्थश्लेषः सोऽभिहितो बुधैः ॥

९. समासोक्तिः — प्रकृतेऽप्रकृताभेदबुद्धि र्या समवस्तुभिः ।
[१८]समासोक्तिरसौ त्रेधा कार्यलिङ्गविशेषणैः ॥

१०. निदर्शना — उपमाकल्पकं वाक्यं यत्रासम्भविनो र्द्वयोः[१९] ।
शब्दार्थयोः प्रकथनं तत्रैका[२०] स्यान्निदर्शना ॥
उपमाकल्पकं वाक्यं[२१] यत्र सम्भवतो र्द्वयोः ।
अर्थयोस्तत्र भवति द्वितीया तु[२२] निदर्शना ॥

---

१४ ज्ञेया. संक्षेपादत्र कीर्त्तिताः । १५ न्तोऽपरस्तु यः ।
१६ कालिकाभेदारूपो ।
१७ बोधको भवति श्लेषोऽलंकारः समुदाहृतः ।
१८ समासोक्तिः परिज्ञेया त्रिविधा सा प्रकीर्त्तिता ।
१९ यत्र ह्यसंभावितवस्तुनोः । २० तदेका ।
२१ यत्र वाक्यं । २२ च ।

११. अप्रस्तुतप्रशंसा – अप्रस्तुतप्रशंसा स्याद् यदाऽप्रस्तुतवस्तुनः ।
कथनं प्रस्तुतार्थस्य[२३] भवेदुत्कर्षबोधकम् ॥

१२. अतिशयोक्तिः – [२४]भेदज्ञानसहायं यदाहार्यं निश्चयात्मकम् ।
[२५]विज्ञेयातिशयोक्तिः सा यत्रान्याभेदबोधनम् ॥
[२६]यदि चेदादिभिः शब्दैरसंभावितवस्तुनः ।
उक्तिर्वाचोपमानस्यातिशयोक्तिरियं परा ॥

१३. प्रतिवस्तूपमा – [२७]प्रतिवस्तूपमां विद्यादुपमानोपमेययोः ।
वाक्ययोरेकधर्मश्चेद् विभिन्नपदबोधितः ॥

१४. दृष्टान्तः – [२८]गम्यते यदि सादृश्यं प्रणिधानवशाद् द्वयोः ।
दृष्टान्तनामालंकास्तदा विद्भिरुदीर्यते ॥

१५. दीपकम् — सकृदेवाभिधानं चेदुपमानोपमेययोः ।
धर्मिणो धर्मरूपायाः क्रियाया दीपकं स्मृतम् ॥

१६. तुल्ययोगिता– [२९]अप्रस्तुतानां वस्तूनां प्रस्तुतानामथापि वा ।
एकधर्माभिसंबन्धे कथिता तुल्ययोगिता ॥

१७. व्यतिरेकः – [३०]उपमानाद् यदाधिक्यमुपमेयस्य कथ्यते ।
तदेव व्यतिरेकाख्यमलंकारं प्रचक्षते[३१] ॥

---

२३ प्रस्तुतस्यैव । २४ भेदज्ञानासहकृतमाहार्यं ।

२५ ज्ञया सातिशयोक्तिस्तु ।

२६ तृतीयः चेत्पदेनोक्तौ यदिशब्देन वा पुनः ।
अर्थात् प्रकल्पना या स्यादसंभावितवस्तुनः ॥

२७ प्रतिवस्तूपमा तत्र उपमानोपमेययोः ।
वाक्यद्वये द्वयं यत्र धर्मस्यैकस्य वाचकम् ॥

२८ सादृश्यं धर्मयोरेवमुपमानोपमेययोः ।
सादृश्यं प्रणिधानेन गम्यं दृष्टान्त उच्यते ॥

२९ (दो श्लोकों में भिन्न कारिकाएँ ही हैं ।)

३० आधिक्यमुपमानाद्यद् ।

३१ ख्यालंकृतिः समुदाहृता ।

इन्द्रपति एवं कुवलयानन्द

अलंकारशास्त्र में कुवलयानन्द एक प्रौढ़ एवं परिमार्जित ग्रन्थ है। इसमें कुल ११७ अलंकारों के लक्षण एवं उदारहण मिलते हैं। इसमें चन्द्रालोक के पंचम मयूख की ही करिकाएँ कहीं-कहीं परिवर्त्तन के साथ अपना ली गयी हैं और कुछ अलंकारों के लक्षण स्वयं रचे गये हैं[२]। उन कारिकाओं पर वृत्ति देकर ग्रन्थ को पाण्डित्यपूर्ण बनाया गया है। जहाँ चन्द्रालोक के लक्षण त्रुटि-पूर्ण हैं या सुव्यस्थित नहीं है, वहाँ कुवलयानन्दकार अप्पयदीक्षित ने परिमार्जित कर दिया है[१]।

इन्द्रपति ने अलंकार लक्षणों को परिमार्जित एवं सुबोध बनाया है। इस दृष्टि से इनकी तुलना अप्पयदीक्षित से की जा सकती है। पर, इनका उद्देश्य पाण्डित्य प्रदर्शन या नवीन अलंकार की कल्पना नहीं है। ये तो काव्यप्रकाश-वर्णित अलंकारों को ही परितिष्ठित लक्षण से प्रस्तुत कर देते हैं। यद्यपि ये दीक्षित जैसे प्रौढ़ विवेचन में नहीं पड़ते हैं, फिर भी इनकी अपनी विशेषता है जो इन्हें दीक्षित से जरा भी कम महत्त्व नहीं होने देती है। यथा- (१) अलंकार के लक्षणों में इतनी स्फीतता, स्पष्टता और चुस्ती दीक्षित नहीं ला सके हैं। (२) अलंकारों के भेदों के ऊहापोह जितना सांगोपांग इन्द्रपति ने किया उतना कुवलयानन्द में नहीं है। (३) शब्दालंकारों का विवेचन दीक्षितजी ने छोड़ दिया है, जब कि इन्द्रपति ने पूर्ण विस्तार के साथ उन्हें उपस्थापित किया है। अतः इन्द्रपति का स्थान उच्चासन पर बैठने हेतु सुरक्षित है।

---

१ कुवलयानन्द — का० – ५।

२ चन्द्रालोक – ५, ११ एवं कुवलयानन्द – का० – ७ तुलनीय है।

आभार प्रदर्शन

इस प्रकार तुलनात्मक दृष्टि से देखने पर इस अलंकारसमुद्ग की सूक्ष्म दृष्टि से हम भली भाँति परिचित हो सकते हैं। इस ग्रन्थ के सम्पादन में हम निम्नांकित व्यक्तियों के प्रति आभार प्रकट करते हैं :—

(१) डॉ० पुष्टिनाथ झा — हस्तलिखित ग्रन्थाधिकारी, का० सिं० संस्कृत विश्वविद्यालय, दरभंगा, जिन्होंने अलंकारसमुद्ग की मूल पांडुलिपि देखने की सुविधा दी।

(२) गुरुवर डॉ० शशिनाथ झा, जिन्होंने इस ग्रन्थ की विद्वत्तापूर्ण व्याख्या लिख दी है।

(३) डॉ० उदयनाथ झा 'अशोक', जो मूलग्रन्थकार इन्द्रपति के सवंश्य हैं और परिचयात्मक कतिपय सामग्री उपलब्ध करायी है।

(४) निदेशक, राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, नई दिल्ली, जिन्होंने प्रकाशन सहायता दी है।

आशा है मेरे इस प्रयास से गवेषकों को लाभ होगा और एक अप्रकाशित प्राचीन ग्रन्थ को पाकर सुधीवृन्द प्रमुदित होंगे।

—डॉ० प्रमोद झा 'गोकुल'

२४–१०–१९९५

ग्रा० पो० — दीप,
जिला — मधुवनी

अलंकारसमुद्ग

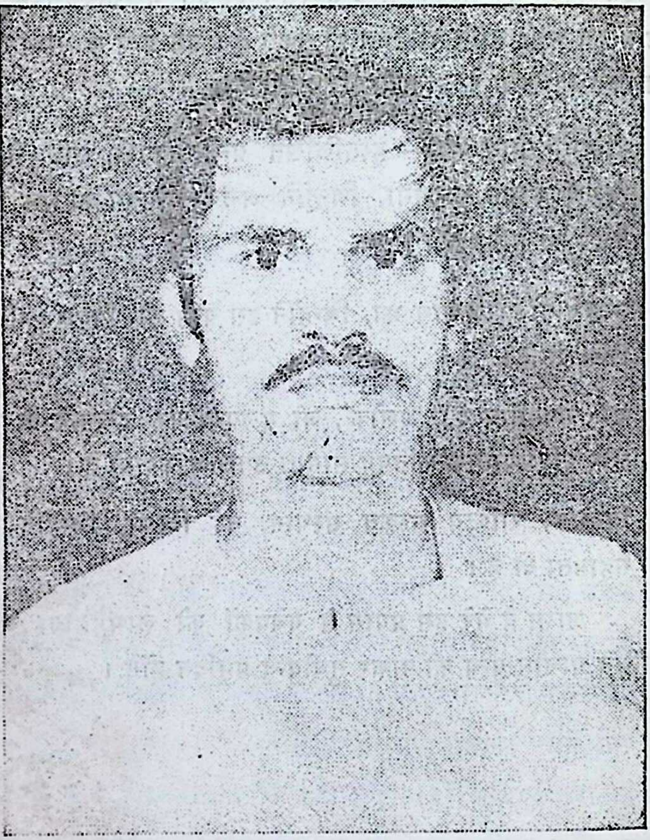

व्याख्याकार

डॉ० शशिनाथ झा विद्यावाचस्पति

॥ ॐ नमतस्य ॥

म० म० इन्द्रपत्युपाध्यायकृतः

अलङ्कार-समुद्गः

शोभितशङ्करसदनं, कदनं दुरितस्य यन्नाम ।
वन्दे तदेकरदनं, करिवरवदनं परं धाम ॥१॥

नन्दीपतेरपरबादरि नामकस्य
सम्मानितस्य मिथिलाधिप-विष्णुसिंहैः ।
भाषाकवे र्मनसि तोष-सुवृद्धिहेतो[1] -
रेनं निबन्धमयमिन्द्रपतिस्तनोति ॥२॥

(हिन्दी व्याख्या)

कृपामयी जगदम्बिका, शरणागत-सुखकारि ।
अलंकार व्याख्यान में, हरहु विघ्न दुख टारि ॥

जो शङ्कर भगवान के घर को शोभित करते हैं, जिसके नाम पाप को नष्ट करने वाले हैं, जो भक्तों के लिये परम धाम (उत्कृष्ट आश्रय) है, उस हाथो के समान मुँहवाले एकदन्त गणेश भगवान की वन्दना करता हूँ ॥१॥

जिसका दूसरा नाम 'वादरि' है, जो मिथिलेश विष्णु सिंह (१७४० – १७४४ ई०) से सम्मानित है, उस मैथिली-भाषा के कवि (कृष्णकेलिमाला-नाटिका के रचयिता) नन्दीपति की मनस्तुष्टि वढ़ाने के लिये आचार्य 'इन्द्र-पति' इस निबन्ध (अलङ्कारसमुद्ग) को वनाते हैं ॥२॥

१—त्रिवृद्धि/सुवृ द्धि/समृद्धि ।

अथ शब्दालङ्कार समुच्चयः

काव्ये शब्दस्य[2] प्राधान्यादादौ शाब्दीरलङ्कृती:[3] ।
विवृणोमि हरिं नत्वा तदुदाहरणानि च ॥३॥

काव्य (शब्दार्थोभयात्मक) में शब्द की प्रधानता रहने से पहले शब्द-मूलक अलङ्कारों का विवरण एवं उदाहरण विष्णुनमस्कारपूर्वक प्रस्तुत करता हूँ ॥३॥

१ - वक्रोक्तिः

अन्यतात्पर्यतो वाक्यमुक्तं[4] वक्त्रा यदन्यथा ।
तात्पर्ययोजितं श्रोत्रा वक्रोक्तिस्तत्र जायते ॥४॥
अभङ्गश्लेषमूला च सभङ्गश्लेषमूलिका ।
काकुमूला च वक्रोक्तिरेवमेषा त्रिधा मता ॥५॥

जहाँ वक्ता ने किसी अन्य अभिप्राय से वाक्य कहा और श्रोता ने उससे विपरीत तात्पर्य से अर्थ लगा लिया तो वहाँ वक्रोक्ति नामक अलङ्कार होता है ॥४॥

अभङ्गश्लेषमूला, सभङ्गश्लेषमूला तथा काकुमूला इन भेदों के अनुसार वक्रोक्ति तीन प्रकार की होती है ।

जहाँ एक ही पद से दो अर्थ लिया जाता है वहाँ श्लेष होता है, वह श्लेष अभङ्ग और सभङ्ग भेद से दो प्रकार का है। हरि पद का विष्णु और कपि अर्थ होना अभङ्ग है और 'विशेष' पद का 'प्रकार' और वि=पक्षी, शेष=नाग अर्थ करना सभङ्ग है। ध्वनि के विकार को काकु कहते हैं। एक ही पद को सामान्य रीति से बोलने तथा विशेष प्रकार से बोलने में अर्थ भेद प्रसिद्ध ही

---

२ शब्दप्राधान्या ।
३—शब्दमूलालङ्कृतीः ।
४—वाक्यमुक्तं ।

है। यथा – 'तूने यह उपकार किया है', इसे काकु द्वारा बोलने से अपकार अर्थ हो जाता है ॥५॥

१. तत्राभङ्गश्लेषमूला, यथा–

[5]धन्या केयं स्थिता ते शिरसि, शशिकला, किन्नु नामैतदस्याः,
नामैवास्यास्तदेतत् परिचितमपि ते, विस्मृतं कस्य हेतोः ।
नारीं पृच्छामि नेन्दुं, कथयतु विजया न प्रमाणं यदीन्दु–
र्देव्या निह्नोतुमिच्छोरिति सुरसरितं, शाठ्यमव्याद् विभो र्वः ॥

– [मुद्राराक्षसनाटकस्य नान्दीपद्यम्]

'यह आपके मस्तक पर कौन सौभाग्यवती हैं ?' 'यह तो शशिकला (चन्द्रमा की ज्योति) है'। 'क्या इसका यह नाम ही है' ? 'नाम ही इसका है सो तो यह (नाम) तुम्हारा परिचित ही है, इसे किस लिये भूल बैठी हो ? 'मैं उस नारी के विषय में पूछ रही हूँ, चन्द्रमा के विषय नहीं में'। 'अरी ! यह चन्द्रमा ही है, यदि तुझे विश्वास नहीं होता है तो अपनी सखी विजया से पूछ लो'। इस तरह गौरी से गङ्गा को छिपाने के लिये शिवजी का यह शाठ्य (नायिका से छल) आपलोगों की रक्षा करे।

यहाँ 'शशिकला' पद से बिना खण्ड किये ही चन्द्रमा की कला एवं इस नाम की नारी, ये दो अर्थ होते हैं। वक्ता के तात्पर्य से अन्य तात्पर्य लेकर ही श्रोता के द्वारा अन्य अर्थ लगाया गया। अतः यहाँ अभङ्गश्लेषमूला वक्रोक्ति है।

२. सभङ्गश्लेषमूना यथा–

के यूयं, स्थल एव सम्प्रति वयं, प्रश्नो विशेषाश्रयः,
किं ब्रूते विहगः स वा फणिपति र्यत्रास्ति सुप्तो हरिः ।
वामा यूयमहो, विडम्बरसिकः कीदृक् स्मरो विद्यते,
येनास्मासु विवेकशून्यमनसः पुंस्येव योषिद्भ्रमः ॥२॥

[साहित्यदर्पणः० १७।६]

५– धन्या केयं स्थितेत्यादि० ।

अत्र शेषो नागः, विः पक्षीत्यर्थद्वयबोधनात् सभङ्गश्लेषः, परत्र त्वभङ्गश्लेषः ।

'आपलोग कौन हैं' 'अभी तो हम स्थल पर ही हैं', 'हमारा प्रश्न विशेष (व्यक्ति) के बारे में है', 'आप क्या कहते हैं, पक्षी और साँप जहाँ विष्णु सोये हैं ?' 'आप तो उल्टा समझने वाले है', अरे !! आप कैसे अजनवी रसिक हैं और आपको कितना कामोद्वेग हो रहा है कि हम जैसे पुरुषों में ही नारी का भ्रम हो गया है' ?

यहाँ श्रोता ने 'के' का अर्थ 'जल में', विशेष का पक्षी तथा शेषनाग और वामा का औरत अर्थ लगाया है ।

इस पद्य में एक ही विशेष (खास व्यक्ति अर्थ बोधक) पद का शेषनाग और वि=पक्षी यह दो अर्थ करने से सभङ्गश्लेष है । अन्यत्र ('के' और 'वामा' में) अभङ्गश्लेष ही है ।

३. काकुमूला यथा—

गुरुपरतन्त्रतया वत ! दूरतरं देशमुद्यतो गन्तुम् ।
अलिकुल-कोकिल-कलिते, नैष्यति सखि ! सुरभिसमयेऽसौ ? ।३।

– [काव्यप्रकाशः – २५४]

काकुमूला वक्रोक्ति का उदाहरण देते है – हे सखी ! हाय ! गुरुजन के द्वारा पराधीन होने से बहुत दूर देश को जाने के लिये उद्यत (तुम्हारा प्रियतम) भौंरों और कोयलों से सुशोभित वसन्त समय मे नहीं आयेगा ? अर्थात् तेरे प्रेम का स्मरण कर अवश्य आएगा ।

यहाँ 'नहीं आयेगा' को ध्वनि विशेष से बोलने पर ही 'अवश्य आयेगा' अर्थ निकला है और यही तो काकु है ।

२ - अथानुप्रासः

१. वर्णानुप्रासः –

वर्णसाम्यमनुप्रासः स्वरे विसदृशेऽपि[6] च ।
ककारादि क्षकारान्ता वर्णा, मात्राः स्वरा मताः ॥६॥
अनुप्रासो द्विधा प्रोक्तश्छेको वृत्तिगतस्तथा ।
छेकोऽनेकेषु वर्णेषु साम्यं स्यात् सकृदेव हि ॥७॥
यदेकस्य च वर्णस्य समत्वं स्यान्मुहुर्मुहुः ।
तत्प्रोक्तो वृत्त्यनुप्रासो रसविद्याविशारदैः ॥८॥

(वर्ण का अनुप्रास)

स्वर के असमान रहने पर भी वर्ण (व्यञ्जन) की समानता को अनुप्रास कहते हैं । क से क्ष तक वर्ण कहलाते हैं । मात्रा को स्वर कहते हैं ॥६॥

अनुप्रास दो प्रकार का कहा गया है – छेक और वृत्तिगत । अनेक वर्णों का एक ही बार समान होना 'पुनः उच्चारित होना' छेकानुप्रास कहलाता है ।७।

एक ही वर्ण जहाँ अनेक वार आता हो तो उसे रसशास्त्र (साहित्य-विद्या) के वेत्ताओं ने वृत्त्यनुप्रास कहा है ॥८॥

(प्रथमतः अनुप्रास दो हैं – वर्णानुप्रास और पदानुप्राम=लाटानुप्रास । यहाँ पहले वर्णानुप्रास का विवरण दिया जा रहा है ।)

(१) छेकानुप्रासो यथा –

ततोऽरुणपरिस्पन्द - मन्दीकृतवपुः शशी ।
दध्रे कामपरिक्षाम - कामिनीगण्डपाण्डुताम् ॥४॥

—[का० प्र० – ३५५]

इसके वाद सूर्म के सारथि के आ जाने से मन्ददेह वाले चन्द्रमा ने किसी रतिश्रान्त कामिनी के गण्डस्थल के पीलेपन को धारण कर लिया । इस पद्य में र, न, द, क, ण और ड वर्णों की एक ही वार आवृत्ति हुई है जो छेकानुप्रास है ।

---

६ – विसदृशोऽपि ।

(२) वृत्त्यनुप्रासो यथाऽस्मत्पितामहभ्रातृचरणस्य--

गान्धारा गुप्तदारास्त्वयि चलति, गलद्वाष्पधारा विहारा,
गाढ़ास्त्रासारगाढ़ाः, [7]क्षितिपकुलमणे ! गुर्जरा जर्जराशाः ।
तैलङ्गास्त्यक्तसङ्गास्त्रिभुवनतिलक ! विलश्यदङ्गाः कलिङ्गा,
मोरङ्गा [8]मुक्तरङ्गास्सपदि समभवन् वीरबङ्गा विहङ्गाः ।।५।।

[सूक्तिमुक्तावली - हरिहरः – ५,२३]

वृत्त्यनुप्रास, जैसे – हमारे पितामहभ्राता हरिहरोपाध्याय के पद्य –

हे राजकुलमणि ! आपके (दिग्विजयार्थ) चलने पर गान्धार देश के निवासी राजालोग शीघ्र ही अपनी पत्नियों को गुप्त स्थान में छिपाने लगे, विहारवासी राजालोग आँसू की धारा बहाने लगे, गाढ़ अस्त्रों की वर्षा से लहूलुहान हुए गुजराती राजालोग निराश हो गये, हे त्रिभुवन भूषण! तैलङ्ग राजालोग अपने साथियों से विछुड़ गये, उत्कल के राजालोग विकलांग हो गये, मोरङ के राजालोग आनन्द हीन हो गये और वीर बंगराज पक्षी की भाँति भाग खड़े हुए ।।

यहाँ 'ग', 'र', 'त', 'क', 'ङ्ग', 'म', और 'व' अक्षरों की अनेक बार आवृत्ति होने से वृत्त्यनुप्रास है ।

(वृत्ति विचारः)

माधुर्यव्यञ्जकै वर्णैरुपनागरिका मता ।
ओजःप्रकाशकै वर्णैः परुषा परिकीर्त्तिता ।।९।।
माधुर्योजःप्रकाशेभ्यः पृथग्भिः कोमला मता ।
एवन्तु वर्णघटिता रीतयस्त्रिविधा मताः ।।१०।।
रसविद्याविदः[9] केचिद् ग्राम्यामाहुस्तु कोमलाम् ।
न तु भट्टमतेनेयं ग्राम्या रीति र्निगद्यते ।।११।।

---

७ – क्षितिपकुलमणेः । ८ – मुक्तबङ्गा ।
९ – विदक्षोचिद् ।

एतास्तिस्रोऽथ वैदर्भी-गौडी-पाञ्चालदेशजाः
रीतयो **वामन**मते रसशास्त्रे प्रकीर्त्तिताः । १२॥

(वृत्त्यनुप्रास के प्रसङ्ग में वृत्तियों के सम्बन्ध की बात इस प्रकार है कि) — माधुर्य गुण के प्रकाशक वर्णों (टवर्ग भिन्न स्पर्श वर्ण जो अपने वर्ग के अन्त्य से संयुक्त हों) से उपनागरिका वृत्ति होती है । ओज गुण के प्रकाशक वर्णों (वर्ग के प्रथम द्वितीय का, तृतीय चतुर्थ का, रेफ युक्त वर्ण का संयोग तथा टवर्ग और श ष) से परुषा वृत्ति बनती है ॥९॥

माधुर्य और ओज के प्रकाशक वर्णों से भिन्न वर्णों से **कोमला वृत्ति** होती है । इस प्रकार वर्ण घटित रीतियाँ तीन प्रकार की हैं ॥१०॥

रसविद्या (साहित्य) के वेत्ताओं में कोई (भामह और उद्भट) कोमला वृत्ति को ग्राम्या कहते हैं (काव्यालंकार सारसंग्रह १, ७) परन्तु मम्मट भट्ट के मत से यह ग्राम्या (निन्दनीया) नहीं है ॥११॥

ये ही तीन (उपनागरिका, परुषा और कोमला) रीतियाँ वामन के मत से रसशास्त्र (साहित्य) में वैदर्भी, गौडी और पाञ्चली कही गयी हैं ॥१२॥

(१) उपनागरिका यथा—

अनङ्गरङ्गप्रतिमं तदङ्गं भङ्गीभिरङ्गीकृतमानताङ्ग्या ।
कुर्वन्ति यूनां सहसा यथैताः स्वान्तानि शान्तापरिचिन्तनानि ॥६।

अनङ्गरङ्गप्रतिमं मदननृत्यस्थानतुल्यं भङ्गीभिरङ्गवाहैः, तथाङ्गी-कृतम् आश्रयातया इमा भङ्ग्यो यूनां स्वान्तानि मनांसि शान्ताऽ-परिचिन्तनानि यथा कुर्वन्ति ।

स्तनभार से झुकी उस सुन्दरी की विलास चेष्टाओं ने उसकी काम के नृत्य स्थल तुल्य देह को इस तरह अपना लिया कि नवयुवकों के हृदय अन्य विषयों की चिन्ता को भूलकर उसी में रमने लगे ॥

(२) परुषा यथा—

मूर्द्धनामित्यादि ।। (७) - [का० प्र० - १५९]

यथा वा—

मन्थायस्तार्णवाम्भो प्लुतकुहर चलन्मन्दरध्वानधीरः,
कोणाघातेषु गर्जत्प्रलय-घनघटान्योन्य-संघट्टचण्डः[10] ।
कृष्णाक्रोधाग्रदूतः कुरुशतनिधनोत्पातनिर्घातवातः,
केनास्मत् सिंहनाद-प्रतिरसितसखो दुन्दुभिस्ताड़ितोऽसौ ॥८॥

[का० प्र० – ३५०]

परुषा (कठोरा) वृत्ति का उदाहरण—मूर्ध्नामुद्वृत्तकृत्त इत्यादि है। अथवा बेणीसंहार नाटक के प्रथम अंक में भीमसेन की यह उक्ति—

किसने इस रणवाद्य पर चोट लगा दी, जो रणभेरी हमारे सिंहनाद के प्रतिध्वनि के समान भयंकर है, जो समुद्र मन्थन के समय विक्षुब्ध कलकल-युक्त अपार समुद्र को विलोड़ित करनेवाले मन्दर पर्वत की गम्भीर ध्वनि के समान भीषण है, जो मृदङ्गादि वाद्यों के वादन काल में सहसा सुन पड़ने वाले गरजते मेघों के संघर्ष की तरह प्रचण्ड है, जो द्रौपदी के क्रोध की सर्वप्रथम सूचना दे रही है, और जो कुरुवंशविनाश के चिह्नभूत प्रलयकालीन झंझा-वात की ध्वनि के समान सुनाई पड़ रही है ॥

(3) कोमला यथा—

[11]अपसारय घनसारं कुरु हारं दूर एव किं कमलैः ।
अलमलमालि मृणालैरिति वदति दिवानिशं बाला ॥९॥

[का० प्र० – ३५६]

'हे सखि ! कपूर हटाओ, हार को दूर करो, कमल का क्या प्रयोजन? 'कमल - नाल व्यर्थ है' — इस प्रकार दिन रात बेचारी बाला सखियों से कहती है ॥

---

१० — मन्द्र । ।
११ — अपसारय घनसारमित्यादि ।

[Library stamp: ...ENDRIYA SANSK... PEETHA, SRINGERI, ACC. No. ३.१५९६]

२. (पदानुप्रासः–लाटानुप्रासः)

[12]साम्येऽप्यर्थपदयो योजनामात्रभेदतः ।
विभिन्नशाब्दधीर्यत्र लाटानुप्रास ईरितः ॥१३॥
अयन्तु लाटानुप्रासः [13]पदानुप्रासनामभाक् ।
तस्य भेदं प्रवक्ष्यामि सोदाहरणमेव हि ॥१४॥
सोऽयं पदस्य नाम्नो वा द्विविधः परिकीर्त्तितः ।
सविभक्तिपदावृत्तिः पदस्य परिकीर्त्तितः ॥१५॥
अन्यादृशो द्वितीयस्तु नाम्नो यः परिकीर्त्तितः ।
सविभक्तिपदावृत्ति द्विविधा परिकीर्त्तिता ॥१६॥
अनेकस्य पदस्यैका द्वितीयैकपदस्य या ।
नाम्नो या सा समासस्था त्रिविधा परिकीर्त्तिता ॥१७॥
एका चैकसमासस्था द्वितीया द्विसमासगा ।
तृतीया च समासस्थासमासस्थपदद्वयोः ॥१८॥
एवं पञ्चविधा प्रोक्ता पदावृत्तिस्वरूपिणी ।
लाटानुप्रासनाम्नी या शब्दालङ्कृतिरुच्यते ॥१९॥

(लाटानुप्रास=पदानुप्रास)

अर्थ और पद की समानता रहने पर भी (पदावृत्ति से) केवल योजना (अन्वय) के भेद रहने पर जहाँ भिन्न-भिन्न शाब्दवोध हो उसे लाटानुप्रास कहा जाता है। लाटानुप्रास में निरर्थक या पृथगर्थक वर्णसमुदाय की आवृत्ति न होने से यमकालंकार से इसका भेद स्पष्ट ही है। यहाँ तो समानार्थक पदों की आवृत्ति होती है, पर आवृत्त पद का अन्वय भिन्न रीति से होता है।

१२– साम्ये। पदार्थयोरभेदे स्याद्–वेणीदत्तः। १३– पदार्थप्रास।

अर्थात् एक उद्देश्य रहेगा तो दूसरा विधेय रहेगा। यदि दोनों उद्देश्य ही रहे तो किसी चमत्कार के अभाव में वहाँ अलंकार ही नहीं रहेगा ॥१३॥

यह लाटानुप्रास पदानुप्रास (पद सम्वन्धी अनुप्रास) कहलाता है। लाटदेशीय व्यक्तियों के द्वारा उद्भावित होने के कारण लाटानुप्रास कहा जाता है। अब उदाहरणसहित उसके भेद कहे जायेंगे ॥१४॥

यह लाटानुप्रास दो प्रकार का होता है – (१) पद का और (२) नाम (प्रातिपदिक) का। विभक्तियुक्त शब्दों की आवृत्ति पदलाटानुप्रास कहा जाता है ॥१५॥

द्वितीय (नामगत) इससे भिन्न, अर्थात् विभक्तिरहित शब्द की आवृत्ति नामलाटानुप्रास कहा जाता है। सविभक्ति-पदावृत्ति दो प्रकार की है ॥१६॥ पहली अनेक पदों की आवृत्ति तथा दूसरी एक पद की आवृत्ति। नामगत जो विभक्तिरहित शब्दावृत्ति है वह समास में रहती है। वह तीन प्रकार की है ॥१७॥ पहली एक समास में रहनेवाली, दूसरी दो समास में रहने वाली और तीसरी समास में तथा असमास में रहनेवाली ॥१८॥

इस तरह शब्द की आवृति रूप जो लाटानुप्रास नामक अलङ्कार है वह पाँच प्रकार का है। सविभक्तिकैकपदावृत्ति, सविभक्तिकानेकपदावृत्ति, एक-समासस्थ, द्विसमासस्थ और समासासमासस्थ ॥१९॥

(१) सविभक्तिकानेकपदावृत्ति यथा –

यस्य न सविधे दयिता दवदहनस्तुहिन-दीधितिस्तस्य।
यस्य च सविधे दयिता दवदहनस्तुहिन-दीधितिस्तस्य ॥(१०)

[का० प्र०— ३५७]

सविभक्तिक अनेक पदों की आवृत्ति का उदाहरण :—

जिसके पास अपनी प्रिया नहीं है उसके लिये शीतल किरणवाले चन्द्र भी दावानल (जंगली आग) हो जाते हैं और जिसके पास प्रिया है उसके लिये दावानल भी शीतांशु चन्द्रमा है।

यहाँ समानार्थक अनेक पदों की तात्पर्यमात्र के भेद से आवृत्ति की गयी है। पूर्वार्द्ध में चन्द्र उद्देश्य और दावानल विधेय है जबकि उत्तरार्द्ध में दावानल ही उद्देश्य और चन्द्र विधेय है ॥१०॥

(२) सविभक्तिकैकपदावृत्ति[14] यथा–

वदनं वरवर्णिन्याः सत्यं तस्याः सुधाकरः।
सुधाकरः क्व नु पुनः कलङ्कविकलो भवेत् ॥(११)
[का० प्र०—३५८]

अत्र पूर्वार्द्धवाक्यार्थे वदनोद्देश्येन सुधाकराभेदो विधेयः, [15]उत्तरार्द्धवाक्यार्थे सुधाकरोद्देश्येन कलङ्कविकलाभेदो न विधेय इति वाक्यार्थभेदः।

सविभक्तिक एक पद की आवृत्ति का उदाहरण।— उस वरवर्णिनी (अत्युत्तमा) नायिका के मुख सचमुच चन्द्रमा है। परन्तु चन्द्रमा कहीं निष्कलङ्क भी हो सकता है?

यहाँ श्लोक के पूर्वार्द्ध के वाक्यार्थ में वदन को उद्देश्य बना कर सुधाकर से अभेद बताना विधेय होता है। उत्तरार्द्ध के वाक्यार्थ में सुधाकर के उद्देश्य से कलङ्करहितत्व का अभेद विधेय नहीं है। अतः वाक्यार्थ का भेद हो जाता है।

(३, ४, ५) नाम्नः प्रकारत्रयं यथा—

सितकर कर रुचिर विभा विभाकराकार[16]! धरणिधर! कीर्त्तिः।
पौरुषकमला कमला सापि तवैकस्य[17] नान्यस्य ॥(१२)
[का० प्र०—३५९]

करकरेत्यादावेकसमासस्था आवृत्तिः। विभाविभेत्यादौ द्विसमासस्था आवृत्तिः। कमला-कमलेत्यत्र समासस्थासमासस्था आवृत्तिः।

१४- एकसविभक्तिकपदावृत्ति यथा। १५—उत्तरार्थं।
१६—रुचिरविभाकराकार। १७—तवैवास्ति—का० प्र०।

नामगत (प्रातिपदिकनिष्ठ) लाटानुप्रास के तीनों भेदों के उदाहरण :—

हे सूर्यसदृश प्रतापी राजा ! शुभ्रकिरणवाले चन्द्रमा के किरण के समान सुन्दर कान्तिवाली कीर्ति, पराक्रमलक्ष्मी (विजयश्री) और लक्ष्मी (राज्यश्री) भी एकमात्र आपकी ही है, अन्य की नहीं ।।१२।।

'करकर' इस प्रकार के स्थल में एक सामासिकपदस्था आवृत्ति है। 'विभाविभा' इस प्रकार के स्थल में अलग-अलग दो सामासिक पदों में शब्द की आवृत्ति है। 'कमला-कमला' यहाँ पूर्वस्थित 'कमला' सामासिक पदस्थित एवं द्वितीय कमला असमासस्थ आवृत्ति है।

३–अथ यमकम्

सजातीयानुपूर्वीक-द्वितीयशब्दसंश्रुतिः[18] ।
नैरर्थक्यार्थभेदे वा तामाहुर्यमकं बुधाः ।।२०।।
अतिप्रसङ्गभङ्गाय सरोरस[19] इति स्थले ।
सजातीयानुपूर्वीक - विशेषणमुदाहृतम् ।।
नैरर्थक्यार्थभेदाभ्यां लाटानुप्रासवारणम् ।।२१।।

नैरर्थक्यार्थभेदौ – (१) "दशरथः प्रशशास महीपतिः
स नगरं नगरन्ध्रकरौजस"– इत्यत्र (१३),
(२) "नव पलाश-पलाशवनं पुरः[20]" (१४),
इत्यत्र च द्रष्टव्यौ ।

(यमक)

समान जातीय वर्णों के यथाक्रम सन्निवेश युक्त शब्द के द्वितीय वार जो श्रवण, वह चाहे तो निरर्थक वर्ण समुदाय की या भिन्नार्थक की आवृत्ति हो, तो उसे विद्वान् लोग यमक अलंकार कहते हैं ।।२०।।

१८–शब्दश्रुतिः । द्वितीयेन पदेन च–वेणीदत्तः । १९–रसोरस ।
२०—सा० द०—१०/८

अतिप्रसङ्ग=लक्ष्य से अधिक दूर तक लक्षण जाने को दूर करने के लिए 'सजातीयानुपूर्वीक' एवं 'नैरर्थक्यार्थभेद' ये दो विशेषण लगाये गये हैं। पहले से 'सरोरसः' यहाँ यमक का वारण होता है। यहाँ दोनों पदों में समान-जातीय वर्ण तो हैं, पर समानानुपूर्वी , क्रमविन्यास) समान नहीं है। दूसरे विशेषण से लाटानुप्रास के स्थल में यमक का लक्षण का वारण होता है। यहाँ निरर्थक वर्णसमुदाय या भिन्नार्थक वर्णसमुदाय की आवृत्ति होती है, जबकि लाटानुप्रास में समानार्थक की ही ॥२१॥

नैरर्थक्य और अर्थभेद का उदाहरण क्रमशः यहाँ देखे जा सकते हैं :—

(१) राजा दशरथ ने नगर पर शासन किया, जो पर्वत में भी छिद्र करने की शक्ति से युक्त थे। 'यहाँ नग+रन्ध्र' में 'नगर' इस वर्णसमुदाय का कुछ भी अर्थ नहीं हैं। (२) यहाँ आगे में नवीन पत्र से युक्त पलाशवृक्ष के वन हैं। इसमें प्रथम 'पलाश' शब्द का अर्थ पत्ता है, जब कि दूसरे का इस नाम का वृक्ष। अतः यह पृथगर्थक पदावृत्ति है।

पादतद्भागवृत्त्या तु यमकं स्यादनेकधा।

(१) प्रथमस्य द्वितीयेन पादेन यमनं मुखम् ॥२२॥

यथा— सदा घनाशाचरणप्रवीणा-

सदाऽघनाशा च रणप्रवीणा।

मुरारिसंसेवितपादपद्मा

सरस्वती निर्वृतिमातनोति ॥ (१५)

पादवृत्ति (श्लोक के चरण में रहने वाला) एवं पादांशवृत्ति (चरण के कुछ ही अंशों में रहने वाला) इन दो भेदों तथा इनके अवान्तर भेदों से यमकालंकार अनेक प्रकार का हो जाता है। पादवृत्ति यमक के ११ भेद हैं, जिनमें पहला यमक 'मुख' नाम का है, जिसमें पहले चरण को आवृत्ति दूसरे चरण में रहती है ॥१२॥

यथा— विष्णु भगवान के द्वारा सुसेवित चरण कमल वाली सरस्वती शान्ति प्रदान कर रही है जो सतत सघन (उत्कट) आशा पूरक चरण वाली,

उत्कृष्ट वीणावाली हैं तथा असदा (यदा-कदा) अघ (पापको) ना॰
करनेवाली और रण (विद्या और अविद्या के युद्ध) में पटु हैं ।।

(२) प्रथमस्य तृतीयेन सन्दंशः परिकीर्त्तितः ।।२३।।

यथा – सन्नारीभरणोमायमाराध्य विधुशेखरम् ।
सन्नारीभरणोऽमायस्ततस्त्वं पृथिवीं जय ।।(१६)

[का० प्र० – ३६०]

सन्नारीमुत्तमां स्त्रियं बिभर्त्तीति सन्नारीभरणा उमा, तां यातीति सन्नारीभरणोमायः, तं विधुशेखरम् । सन्नारीणां साद॰ युक्तारीणाम् इभा हस्तिनो यत्र तथाविधं रणं युद्धं यस्य स इत्य॰ स्य विशेषणम् अमायो मायारहितः ।

प्रथम चरण का तृतीय चरण के साथ यमन (तुल्यरूपता) को 'सन्दं॰ कहा जाता है ।।२३।।

यथा उत्तम नारी को भरे-पूरे रखनेवाली पार्वती को प्राप्त करने वाले वि॰ शेखर (शिव) को पूजितकर, सन्न (विषादयुक्त) शत्रुओं के हाथी॰ युक्त युद्धवाले मायारहित होकर आप पृथ्वी को जीतें ।।

(३) प्रथमस्य तुरीयेण यमनं वृत्तिनामकम् ।।२४।।

यथा– सदारञ्जनं काञ्चनाभामयन्तं
भजे वन्धुरां वंशिकां वादयन्तम् ।
सुमेरुं मुदा मानयन्नाहमोहे
सदारञ्जनं काञ्चनाभामयन्तम् ।।(१७)

प्रथम चरण का चतुर्थ चरण के साथ यमन (तुल्यरूपता) को 'वृत्ति॰ यमक कहते हैं । यथा -

सुन्दर वंशी बजाते हुए, दार (पत्नी, सहित, किसी आभा (आलोक) को प्राप्त करते हुए (अथवा सोने की छवि को अपने में मिलाते हुए) व्यक्ति॰

भजन करता हूँ। (इस पर कोई दूसरा कहता है कि, मैं उसे सुमेरु पर्वत मानता हुआ उसकी कामना नहीं करता हूँ, क्योंकि वह भी सदा रञ्जन (आह्लादक) और स्वर्ण की आभा से युक्त है।

(४) द्वितीयस्य तृतीयेन यमनं गर्भ ईरितः ॥२५॥

यथा— [21]मनः सदम्भोजगतोऽधुना नः
खरं खलः खेलतु खेदकारी।
खरं खलः खेलतु खेदकारी
पुनातु पीतं वसनं वसानः ॥(१८)

द्वितीय चरण के साथ तृतीय चरण की समानता का नाम 'गर्भ' कहा गया है ॥२५॥

यथा— हमारे मन रूपी कमल पर जाकर अभी सतानेवाले दुष्टजन प्रचण्डरूप से खेलें और खर नामक राक्षस को मारनेनाले दुष्टों (खेदकों) को सतानेवाले (या खे=आकाशे, ददाति जलमिति खेदो मेघः, तं करोतीति, मेघ वनानेवाले भी हमारे मन में) प्रविष्ट करें। इस तरह पीले वस्त्र को धारण करने वाले भगवान् राम दुष्टों से हमारी रक्षा करें॥

(५) द्वितीयस्य चतुर्थेन सन्दष्टक उदाहृतः ॥२६॥

यथा— या न ययौ प्रियमन्यवधूभ्यः
सा रतरागमनायत मानम्।
[22]तेन सहे हरिभर्त्रि रहःस्त्री
सारतरागमना यतमानम् ॥(१९)

द्वितीय चरण के साथ चतुर्थ चरण की तुल्यरूपता का नाम 'सन्दष्टक' कहा गया है ॥२६॥

२१ – (मूल में द्वितीय चरण को ही प्रथम चरण में रखा गया है।)
२२ – तेन सहे हरिर्भर्त्तिरहस्त्री।

जो नायिका अन्य बन्धुओं से अलग होकर अपने प्रिय के पास नहीं गयी, वह नायिका अनुराग भरे प्रेमी के प्रति मान पहुँचा चुकी है। अतः हे लक्ष्मी ! मैं उसके अपराध को सह लेता हूँ, क्योंकि गुप्त प्रेयसी अपने प्रिय के द्वारा चेष्टा करने पर तत्त्वतः पहुँच ही जाती है। अर्थात् उसका मान तोड़ना आवश्यक है।

(६) तृतीयस्य चतुर्थेन यमनं पुच्छ उच्यते ॥२७॥

यथा— मुरारिसंसेवितपादपद्मा
सरस्वती निर्वृतिमातनोति ।
सदा घनाशाचरणप्रवीणा
सदाघनाशा च रणप्रवीणा ॥(२०)

तृतीय चरण के साथ चतुर्थ चरण की तुल्यरूपता को 'पुच्छ' नामक यमक कहा जाता है ॥२७॥

उदाहरण का अर्थ उदाहरण संख्या – १५ में देखा जा सकता है। वहाँ इसके तृतीय चरण से पद्य प्रारम्भ होता है।

(७) प्रथमस्य द्वितीयादि - त्रिषु पङ्क्तिरुदाहृता ॥२८॥

यथा— विकासमीयु र्जगतीशमार्गणा
विकासमीयु र्जगतीश-मार्गणाः ।
विकासमीयु र्जगती शमार्गणा
विकासमीयु र्जगतीश मार्गणाः ॥(२१)

प्रथम चरण के साथ द्वितीय, तृतीय एवं चतुर्थ चरण की तुल्यरूपता को पङ्क्ति नामक यमक कहते हैं। इसमें चारों चरण समान ही होते हैं ॥२८

संसार के प्रभु से प्रार्थना करने वाले हर्ष को प्राप्त करें, संसार में ईश (शिव) को ढूँढ़ने वाले फैल जाएँ, पृथ्वी के ईश (राजा) से याचना करने-वाले उत्सुक होवें और गाय के ईश (बड़े बैल) के याचक उत्सुक हो जायें। (विकास=उन्नति, उत्सुकता, हर्ष खिलना। जगती = पृथ्वी, संसार, गायें। ईश=प्रभु, शिव। मार्गण=याचना, अन्वेषण, प्रार्थना।) (२१)।

(८) [23]मुखं पुच्छं द्वयं यत्र युग्मकं तदुदाहृतम् ।।२६।।

यथा – विनायमेनो नयताऽसुखादिना
विना यमेनोनयता सुखादिना ।
महाजनोऽदीयत मानसादरं
महाजनोदी यतमान ! सादरम् ।।२२।।

[का० प्र० – ३६१]

महाजनः कश्चिद् विना पक्षिणा, मानसात् सरोविशेषात्, अरं शीघ्रम्, अदीयत अखण्ड्यत, दो अवखण्डने लङि रूपम् । यमेन यमसदृशेन, सुखादिना ऊनयता सुखादिभि विरहितं कुर्वता, विनायम् अयं=शुभावहविधि विना, भाग्येनेति यावत् । अयं विनेति महाजनखण्डने हेतुरुक्तः । एनः पापं, दुख वा, नयता प्रापयता । तृतोयान्तानि विनेति पक्षिवाचक - विशब्दस्य तृतीयान्तस्य विशेषणानि । असुखादिना असूनां प्राणानां, खादिना भक्षकेण, महाजं महाछागं, नुदति हन्तोति महाजनोदी उत्कृष्टच्छागहन्तेत्यर्थः । यतमानेति प्रयत्नं कुर्वाणेति सम्बोधनप्रथमा । सादरमिति क्रियाविशेषणम् ।

मुख और पुच्छ नामक दोनों यमक जिस श्लोक में विद्यमान हों, उसे युग्मक कहा गया है ।।२६।।

यथा— अरे प्रयत्न करनेवाले ! (यतमान) बड़े छाग को मारनेवाला (महाजनोदी) कोई महाजन सत्कर्म के विना (अयं विना) उस पक्षी के द्वारा (विना—पक्षिणा, मानसरोवर से लाकर शीघ्र (अरं) ही सादर खण्डित किया गया (अदीयत), जो पक्षी यमराज के समान

२३ – मुखं पुच्छद्वयं ।

सुख सम्पत्ति को कम कर रहा था, दुःख प्राप्त कराता था (एन-नयता) प्राण का भक्षक (असु-खादिना) था।

(९) वृत्ति - गर्भसमावेशे परिवृत्तिरुदाहृता ।

(१०,११) अर्धावृत्तिः समुद्गः स्याच्छ्लोकावृत्तिस्त्वयुग्मकम्[24] ॥३

श्लोकावृत्ति यथा –

स त्वारम्भरतोऽवश्यमवलं विततारवम् ।
सर्वदा रणमानैषीदवानलसमस्थितः ॥ (२३)

पुनरेतदेव ॥

[का० प्र० – ३६२]

स तु आरमितिच्छेदः। स तु प्रकरणवशात् स इति तच्छब्देन राजा योज्यते। आरमरिसमूहम्। तेन स तु नृपतिरारं शत्रु-समूहं, भरतोऽध्यवसायात्, रणं संग्राममानैषीद् आनयति स्म। अवश्यं न वश्यम्, अस्वाधीनमिति यावत्। अबलम्बलरहितं, बल सेना सत्त्वापरपर्यायः शरीरधर्मो वा, विततो विस्तीर्ण आरव आक्रन्दो यस्य तम्। आरवमित्यस्य द्वितीयान्तानि विशेषणानि। सर्वदाऽलसम् अवान्, अलसं जनमगच्छन्नित्यर्थः। 'वा' गतिगन्ध-नयोरिति धातु र्नञ्समासे शतरि रूपम् अवानिति। अस्थितः 'अ' शब्दोऽत्र विष्णुवाची, तेन विष्णुपरायण इत्यर्थः। प्रथमा-न्तानि स इत्यस्य विशेषणानि।

द्वितीयश्लोकेऽपि सत्त्वेन बलेन य आरम्भस्तत्र रतः, अवश्यं, निश्चितम्, अबलम्बितमाश्रितं तारवं तरुसमूहो येन तमित्यार-मित्यस्यान्वयि। सर्वेषां दारणस्य मानस्यैषी अभिलाषी सर्वदा-

२४ – 'वृत्तिस्त्वयुमकम्' (वृत्तिर्मंहायमम् – इति तूचितः पाठः)।

णमानैषी, दवानलस्य दवाग्नेः, समं सदृशं स्थितमवस्थानं यस्य प्रतापशील इत्यर्थः ।

एक ही पद्य में वृत्ति और गर्भ संज्ञक यमक के रहने पर उसे परिवृत्ति नामक यमक कहा गया है। श्लोक के आधे की आवृत्ति को समुद्ग कहते हैं और पूरे श्लोक की आवृत्ति (दूसरे श्लोक के रूप में) को अयुग्मक (महा-यमक) कहते है ॥३०॥

श्लोक की आवृत्ति रूप महायमक का उदाहरण—

उस (स तु) सदा आलसी के प्रति गमन न करने वाले (अलसम् अवान्), विष्णुपरायण (अ-स्थितः), पराक्रम से ही सिद्ध होने वाले कार्यों 'में' (सत्त्वारम्भरतः), सभी शत्रुओं को विदारण करने वाले मान का अभि-लाषी (सर्वं-दारण-मानैषी), दावानल के समान प्रतापी (दाबानलसमस्थितः) राजा ने अपने प्रभाव से (भरतः) निश्चय ही (अवश्यं) उस शत्रु समुदाय को (आरम्) रणभूमि में पकड़वा लाया (आनैषीत्), जो अपने वश में नहीं थे (अवशं), सेना से रहित थे (अवलं , जोर से चिल्ला रहे थे (विततारवम्) और वन का आश्रय लिये (अवलम्वितारवम्) थे ।

प्रथमस्याद्यभागेन द्वितीतस्यादिमेन च ।
यदा पादस्य यमनं तदा तन्मुखमीरितम् ॥३१॥

यथा—वसुधा-राजित्तारम्भ ! वसुधारार्पणोदयात् ।
यदुनाथ ! जमत्पासि मम नासि कथं पतिः ॥ (२४)

एवमन्यदप्यूह्यम् ।

पादभागवृत्ति—प्रथम चरण के आदि भाग के साथ द्वितीय चरण के आदि भाग की तुल्यरूपता यदि रहे तो उसे 'मुख' कहा जाता है। (पाद-वृत्ति यमक के समान ही पादभागवृत्ति यमक के भेदों का नाम होता है, परन्तु पादभागवृत्ति के महायमक भेद न होने से उसके आदि भाग के १० एवं अन्य भाग के १० भेद होते हैं) ॥३१॥

यथा — हे यदुनाथ ! पृथ्वी पर शोभित (सुव्यस्थित वस्तु) के आरम्भ करने वाले ! वसु (धन) की धारा समर्पित करने के अभ्युदय से आप संसार का पालन करते हैं तो मेरे पति कैसे नहीं हैं ? (अर्थात् अवश्य हैं।) इस प्रकार पादभागवृत्ति यमक के अन्य (सन्दंश, आवृत्ति आदि) भेदों को भी जाना जा सकता है।

४ – अथ श्लेषः

एकोच्चारणतो यत्र भिन्नार्थ-प्रतिपादकः ।
शब्दो भवति स श्लेषोऽलङ्कृतिः समुदाहृता ॥३२॥
वर्णे लिङ्गे पदे भाषा-प्रकृति-प्रत्ययेषु च ।
विभक्तौ वचने, श्लेष[25] एवमष्टविधः स्मृतः ॥३३॥

जहाँ एक वार ही उच्चारण किये जाने पर भिन्न-भिन्न अनेक अर्थों के प्रतिपादक (बोधक) शब्द हो, वह श्लेषालङ्कार कहा जाता है ॥३२॥

यह श्लेष वर्णं में, लिङ्ग में, पद में, भाषा में, प्रकृति में, प्रत्यय में, विभक्ति में और वचन में रहने से आठ प्रकार का कहा गया है ॥३३॥

(१) वर्णश्लेषो यथा–

अलङ्कारः शङ्काकरनरकपालं, परिजनो
विशीर्णाङ्गो भृङ्गी, वसु च वृष एको बहुवयाः ।
अवस्थेयं स्थाणोरपि भवति सर्वामरगुरो-
र्विधौ वक्रे मूर्द्ध्नि स्थितवति, वयं के पुनरमी ॥ (२५)

[का० प्र० – ३६६]

यथा वा—

---

२५ – वचनश्लेष ।

प्रतिकूलतामुपगते हि विधौ
विफलत्वमेति बहुसाधनता ।
अवलम्बनाय दिनभर्त्तुरभू-
न्न पतिष्यतः करसहस्रमपि ॥ (२६)
[सा० द० – १०/११]

अत्र विधावित्यत्र विधि - विधुशब्दयोरिकारोकारयोरे-कोच्चारणादेवौकारेणोपस्थितिः ।

वर्णश्लेष का उदाहरण – कुटिल चन्द्र (द्वितीया के चन्द्रमा) या वक्र भाग्य के मस्तक पर आ जाने से देवाधिदेव शिवजो की भी यह अवस्था कि भयानक नरमुण्ड ही अलङ्कार, जर्जर अङ्गवाले भृङ्गी नामक ही सेवक और एक मात्र वूढ़ा बैल ही धन रहे, तो भला हम जैसे तुच्छ लोगों की वात ही क्या हो सकती है ।

अथवा दूसरा उदाहरण – चन्द्रमा (या भाग्य) के विरुद्ध होने पर (विपरीत दिशा में उदित होने पर) बहुत साधन रहना भी निष्फल हो जाता है (बचने में सहायक नहीं होता है ।) क्योंकि पतन के समय में (अस्त के समय) सूर्य का (या तेजस्वी किसी पुरुष के) हजारों हाथ [या किरण] सहारा नहीं हो सके ।

यहाँ 'विधौ' पद में विधि और विधु शब्द के सप्तमी के एकवचन में एक औकार के उच्चारण से ही अर्थ की उपस्थिति हुई है ।

(२) पदश्लेषो यथा –

पृथुकार्त्तस्वरपात्रं भूषितनिश्शेषपरिजनं देव !
विलसत्करेणुगहनं सम्प्रति सममावयोः सदनम् ॥ (२७)
[का० प्र० – ३७०]

अत्र पृथुकानां बालानाम्, आर्त्तस्वरस्य पात्रम् । राजपक्षे पृथु बहुलं कार्त्तस्वरस्य सुवर्णस्य पात्रं यत्रेति व्युत्पत्तिः । भूषितोऽ-

लङ्कृतः परिजनो यत्र तत् तथा पक्षे भुवि उषितं सुप्तमित्यादिः क्रमेण पदश्लेष ऊह्यः ।

यथा वाऽस्मत्पितामहभ्रातृचरणस्य—

कामक्रान्तजलान्तरेषु विहरन्, जाग्रन्नखाग्रक्षतो
नीचीभूतबलि, र्जितावनिधरः, सम्बद्धरत्नाकरः ।
श्रीखण्डद्रवपाण्डुरागमतिरोधायी, जगन्मूर्च्छकः[26]
श्रीकृष्णस्य दशावतारतुलनां धत्ते तरुण्याः स्तनः ।।(२८)

अत्र जलादिपदानामेव श्लेषो न तु वाक्यानामिति भेदः ।

पदश्लेष का उदाहरण--हे राजन् ! अभी हम दोनों (राजा और दरिद्र) के घर तुल्य ही हैं क्योंकि यह घर पृथुकार्त्तस्वरपात्र (बालकों के आर्त्तस्वर के पात्र, राजपक्ष में- बहुत से स्वर्णपात्र से युक्त), भूषितनिश्शेष-परिजन (पृथ्वी पर ही जहाँ सोया जाय, राजपक्ष में भूषित हैं परिजन जहाँ) और विलसत्करेणुगहन (चूहों के बिल की मिट्टी से भरा हुआ, राजपक्ष में-विलास करती हुई हथिनियों से भरा हुआ) है।

पदश्लेष का दूसरा उदाहरण हमारे पितामहभ्राता म० म० हरिहरोपाध्याय का पद्य भी प्रस्तुत है :—

तरुणी का स्तन तो श्रीकृष्ण भगवान् के दस अवतारों की तुलना पा रहा है। यथा—अत्यन्त फैले हुए जल के भीतर विहार करता हुआ (मीन अवतार में), स्तनपक्ष में—काम के परिश्रम से निकले पसीनों से भींगे वस्त्र में निवास करता हुआ, (कूर्मावतार में) जल के भीतर से उगता हुआ, स्तन पक्ष में—वस्त्र के भीतर से कसा एवं उगा हुआ, (नरसिंहावतार में) नाखून के नोंक से हिरण्यकशिपु को क्षत करने वाला, स्तनपक्ष में—नायक के नखाग्र भाग से चिह्नित किया हुआ, (वामनावतार में) बलि नामक दैत्य को नीचा दिखाने

२६— मूर्त्तकः ।

वाला, स्तनपक्ष में–त्रिवली को नीचा करनेवाला (अत्युन्नत), (परशुरामावतार में) पृथ्वी के रक्षक क्षत्रियों को जीतनेवाले, स्तनपक्ष में–पर्वत को भी कठोरता से जीतने वाला, (रामाबतार में) समुद्र को बान्धनेवाले, स्तनपक्ष में अमूल्य रत्नों से जुड़ा हुआ, (वराह एवं बलरामावतार में) घिसे हुए श्रीखण्डचन्दन के समान गौरवर्णवाला, स्तनपक्ष में–चन्दन के लेप से पाण्डुवर्ण का बना हुआ, (बुद्धावतार में) वेद को तिरस्कृत करनेवाले, स्नतपक्ष में–किसी व्यक्ति के आगमन पर छिपनेबाला और (कल्कि अवतार में) संसार को मूर्छित करने वाले, स्तनपक्ष में संसार को मोहित करनेवाला है।

यहाँ जलादि पदों में ही श्लेष है, न कि वाक्य में, यही पूर्वोक्त उदाहरण से इसका भेद है।

(३,४) लिङ्गवचनयोः श्लेषो यथा–

भक्तिप्रह्वविलोचन-प्रणयिनी, नीलोत्पलस्पर्धिनी,
ध्यानालम्बनतां समाधिनिरतै र्नीतेहितप्राप्तये ।
लावण्यस्य महानिधी, रसिकतां लक्ष्मीदृशोस्तन्वती,
युष्माकं कुरुतां भवार्त्तिशमनं नेत्रे तनु र्वा हरेः ॥(२६)

[का० प्र० – ३७१]

अत्र प्रणयिनी इति नपुंसके द्विवचनं, स्त्रियामेकवचनं प्रथमाया इति लिङ्गवचनयोः श्लेषः। एवमन्यदप्यूह्यम्।

लिङ्गश्लेष एवं वचनश्लेष का उदाहरण –

हरि (विष्णु) के वे तीनों नेत्र और उनकी वह मूर्त्ति आपलोगों की सांसारिक पीड़ा का शमन करे, जो (नेत्र और मूर्त्ति) भक्ति से नम्रों को देखने में अनुराग भरे, तनु पक्ष में - भक्तों के दर्शन का एकमात्र केन्द्र, नील-कमल से स्पर्धा (प्रतिद्वन्द्विता) करनेवाले, (तनु पक्ष में) नीले कमल से भी सुन्दरता में बढ़ी चढ़ी, अभीष्ट पाने के लिये समाधिरत जनों के ध्नान के एक-मात्र आलम्बन बने, (तनु पक्ष में) मनोरथ सिद्धि हेतु योगियों के ध्यान का एकमात्र केन्द्र बनी, सौन्दर्य के महासागर, (तनु पक्ष में) सौन्दर्य के असीम

आधार और लक्ष्मीजी की दृष्टि में रसिकता को बढ़ाते हुए, (तनु पक्ष में) लक्ष्मी जी के हृदय में रतिभाव को पैदा करने वाली है।

यहाँ 'प्रणयिनो', 'स्पर्धिनी', 'नीते', 'महानिधी' और 'तन्वती' ये रूप नपुंसक द्विवचन के हैं, जो 'नेत्र' के विशेषण हैं और ये ही रूप स्त्रीलिंग एकवचन के है जो 'तनुः' के विशेषण हैं। परन्तु 'नीते' के स्थान में 'नीता (+ ईहित)' और 'महानिधी' के स्थान में महानिधिः (+ रसिकतां) द्वितीय पक्ष में ग्राह्य हैं। क्रिया 'कुरुतां' परस्मैपद का द्विवचन के रूप में 'नेत्रे' के साथ तथा आत्मनेपद का एकवचन के रूप में 'तनुः' के साथ अन्वित होता है। यहां लिङ्ग और वचन का श्लेष स्पष्ट देखा जा रहा है।

(५) भाषाश्लेषो यथा—

महदे सुरसन्धम्मे तमवसमासंगमागमाहरणे ।
हरबहुसरणं तं चित्तमोहमवसर उमे सहसा ।। (३४)
[का० प्र० – ३७२]

मह मह्यं, देसु देहि, धम्मे धर्मे, रसं रतिं, तमवस तमोवशां, आसं आशाम्, गमागमा गमागमः संसारः, हरणे हारिणी, हरबहु हरपत्नि !, सरणं शरणं, तं त्वं, चित्तमोहं चित्तमोहः, अवसरउ अपसरतु, मे मम, सहसा सहसा।

संस्कृतपक्षे-- हे उमे, (मे मम) महदे उत्सवदे, सम् अव। तं कम् ? समासङ्गम्। तं कीदृशम् ? सुरसन्धं सुरसन्धानकारणम्। कस्मिन् ? आगमाहरणे आगमस्य शास्त्रस्याहरणे परिज्ञाने, तं चित्तमोहं, हर निराकुरु। कदा ? अवसरे समुचितसमये। कथं ? सहसा। चित्तमोहं (किम्भूतम्) बहुसरणं बहूनि नानाविधानि सरणानि जन्ममरणादीनि यस्मात् तथाविधम्। अत्र विभिन्नवाक्यार्थ बोधजनकः श्लेषः भाषा-संस्कृतयोः।

जहाँ एक ही श्लोक, शब्द या वाक्य दो भाषाओं में समान रूप से ग्राह्य हो, पर अर्थ भिन्न हो तो वहाँ भाषाश्लेष होता है, जिसका उदारहण 'महदे' आदि पद्य है। इस पद्य का, प्राकृत और संस्कृत दोनों भाषाओं में अलग-अलग अर्थ है—

(१) प्राकृत पक्ष में — हे हर की पत्नी ! सांसारिक गमनागमन से छटकारा दिलानेवाली ! तुम मेरी शरण हो, मुझे धर्म करने में प्रीती बढ़ाओ, तमोगुण से भरी आशा को हटाओ और मेरे चित्त के मोह को जल्द हटाओ।

(२) संस्कृत पक्ष में— हे उमे (गौरि) ! उत्सव देने वाली ! मेरे वेद-विद्या के उपार्जन में, देवों से मिलने में उस आसक्ति की रक्षा करो। उचित अवसर पर उस वारं वार संसार में फँसाने वाले चित्त के मोह को शीघ्र दूर करो।

(६) प्रकृतिश्लेषो यथा—

अयं सर्वाणि शास्त्राणि हृदि ज्ञेषु च वक्ष्यति।
सामर्थ्यकृदमित्राणां मित्राणां च नृपात्मजः ॥ (३५)

[का० प्र० – ३७१]

अत्र कृदित्यस्य मित्राणां सामर्थ्यकर्त्तेत्यर्थः, अमित्राणां सामर्थ्यच्छेत्तेत्यर्थः। क्विप्समभिव्याहृतकृञ् धातुः, करणं कर्त्तनञ्च एकोच्चारणत एव बोधयतीति शेषः।

जिससे प्रत्यय का विधान हो वह प्रकृति कहलाता है। उसके श्लेष का उदाहरण— यह राजपुत्र अपने हृदय में एवं विद्वानों के समक्ष सभी शास्त्रों को कहेगा जो (राजपुत्र) शत्रु और मित्र दोनों का सामर्थ्यकृत् (सामर्थ्य को काटनेवाला या सामर्थ्य सम्पादित करनेवाला) है।

यहाँ कृञ् करणे और कृती छेदने इन दोनों धातुओं से क्विप् प्रत्यय करने पर 'कृत्' रूप ही होता है। प्रत्यय के लुप्त हो जाने से यहाँ केवल प्रकृति ही बच जाती है जो एक उच्चारण से ही करना और छेदना रूप अर्थ का बोधक है।

(७) प्रत्ययश्लेषो यथा—

रजनिरमणमौलेः पादपद्मावलोक-
क्षणसमयपराप्तानेकसम्पत्सहस्रम् ।
प्रमथ-निवहमध्ये जातुचित् तत्प्रसादा-
दहमुचितरुचिः स्यान्नन्दिता सा तथा मे ।। (३६)
[का० प्र० – ३७४]

अहं जातुचित् कदाचित् तत्प्रसादात् चन्द्रचूड़प्रसादात्, प्रमथ-निवहमध्ये प्रमथगणमध्ये, उचितरुचिः तद्गणसहवासयोग्याभिलाष-नन्दिता नन्दकर्त्ता आनन्दकर्त्तेति यावत् स्यामित्येकोऽन्वयः।

नन्दिता नन्दनामधेयगणसारूप्यं स्यादिति द्वितीयो बोधः।

अत्र स्यान्नन्दितेत्यत्र तकारनकारयोर्न्नकारयोगेन नकारादेश इति प्रथमोत्तमपुरुषैकवचनसाधारण्यम्। अत्र श्लोकार्धं क्रिया-विशेषणम्।

प्रत्यय श्लेष का उदाहरण — [हे देवि !] मैं कदाचित् उनकी [शंकर की] कृपा से भगवान् चन्द्रशेखर के चरण कमल के क्षण भर दर्शन से अनेक अलौकिक ऐश्वर्य की प्राप्ति करता हुआ प्रमथगण [शिव के सेबक] में स्थान पाने की अभिलाषा से तुम्हें आनन्दित करने वाला [नन्दिता] बनूँ और इस तरह मेरा नन्दिता [नन्दीगण बनना] संभव होगा।

यहाँ नन्द + तृच् = नन्दिता = प्रसन्न करने वाला और नन्दिन् + तल् = नन्दिता [नन्दी नामक शिव-गण बनना] तथा स्यात् + नन्दिता = स्यान्नन्दिता एवं स्याम् + नन्दिता = स्यान्नन्दिता शब्दों में तृच् और तल् का तथा त् (प्रथम पुरुष का एकवचन) और म् [उत्तम पुरुष का एकवचन] का प्रत्ययश्लेष है।

(८) विभक्तिश्लेषो यथा—

सर्वस्वं हर सर्वस्य त्वम्भवच्छेदतत्परः ।
नयोपकारसाम्मुख्यमायासि तनुवर्तनम् ।। (३७)

[का० प्र० – ३७५]

हे हर शम्भो ! सर्वस्य जनस्य सर्वस्वं सारभूतस्त्वम् । सारभूतत्वे हेतुमाह – भवच्छेदेति । नयोपकारयोः साम्मुख्यमिति क्रियाविशेषणम् । तनुवर्तनं शरीरसम्बन्धम्, आयासि आगच्छसि इत्येकोऽर्थः । अपरस्तु, हे भव ! सर्वस्य सर्वस्वं, हर निराकुरु । धनहरणे हेतुमाह – छेदतत्पर इति, वन्धस्येत्यर्थात् । उपकार-साम्मुख्यम् उपकारानुकूल्य, नय प्रापय। सर्वं जनमिति प्रकार-वशात् । आयासि आयामजनकं, वर्त्तनं वृत्तितपश्चर्यादिकं, तनु विस्तारय, सर्वं द्रविणजातमपनीय तपोविधिषु नियोजय ।

अत्र हरेतिपदस्य सम्बोधनपरत्वे आख्यातपरत्वे च सुप्तिङ् विभक्त्योः श्लेषः ।

विभक्तिश्लेष का उदाहरण—हे हर ! आप ही सवों के सर्वस्व हैं, संसार से छुटकारा दिलाने वाले हैं और अपने स्वरूप से नीति के अत्यन्त अनुकूल होते हैं ।

द्वितीय अर्थ— हे भव [शंकर] ! आप सवों के बन्धन को तोड़ने के लिये सर्वस्व [सकल धनादि] हर लें, सबों को उपकारी वनायें और आयास-जनक वृत्ति-तपस्या आदि को बढ़ावें, अर्थात् सभी सम्पत्ति हर कर तपस्या में लगा दें ।

तृतीय अर्थ - हे भव (पुत्र) ! तू सवका सर्वस्व हर ले, सबके घर में सेंध लगाने में तत्पर हो जाओ (भव), किसी का उपकार करना छोड़ दो (नय=दूर करो) और दूसरे के कष्टदायक (आयासि) वृत्ति (जीविका) को अपना लो (तनु=विस्तारय) ।

यहाँ हर, भव, नय, आयामि और तनु पद सुवन्त और तिङन्त दोनों हैं। अतः सुप् और तिङ् विभक्ति का श्लेष।

पदालङ्कारभूतोऽयं श्लेषस्तु द्विविधो मतः ।
एकोऽभङ्गः, सभङ्गो हि द्वितीयः परिकीर्त्तितः ।।३४।।

तत्र अभङ्गश्लेषो यथा—

योऽसकृत् परगोत्राणां पक्षच्छेदक्षणक्षमः ।
शतकोटिदतां बिभ्रद् विबुधेन्द्रः स राजते ।। (३८)

[का० प्र० – ३७६]

अत्र प्रकरणेन नियमनाभावान्न व्यञ्जना ।

शब्दालंकार के रूप में यह श्लेष दो प्रकार का है–पहला अभङ्गश्लेष और दूसरा सभङ्गश्लेष। उसमें सभङ्गश्लेष (शब्द के खण्ड करने से दो अर्थों के प्रतिपादक) के आठों भेदों का उदाहरण दिया जा चुका है। अब अभङ्गश्लेष (शब्द के खण्डित किये विना ही दो अर्थों के प्रतिपादक) का उदाहरण प्रस्तुत किया जा रहा है— (राजपक्ष में) जो राजा अनेक बार शत्रु के वंशजों के सहायकों (पक्ष) के छिन्न-भिन्न करने में समर्थ है, सौ करोड़ रुपये देनेवाला है वह पण्डितश्रेष्ठ राजा शोभित हो रहा है। (इन्द्र पक्ष में) जो पर्वतों के पक्ष के भेदन में तत्क्षण समर्थ है, वज्र [शतकोटि] के द्वारा असुरों का विनाशक है वह देवराज इन्द्र शोभित हो रहा है।

यहाँ प्रकरण के द्वारा नियमन के अभाव में व्यञ्जना नहीं है, अपितु दोनों अर्थ वाच्य ही हैं। प्रकरणादि के द्वारा नियन्त्रित होने पर अर्थद्वय की प्रतीति के स्थल में अभिधामूला व्यञ्जना होती है और उसके अभाव में अभङ्गश्लेष।

[श्लेषस्य शब्दालङ्कारताऽर्थालङ्कारतावेति-विवेचनम्]

यदलङ्कारसर्वस्वकृतां श्लेषो द्विधा मते ।
अर्थश्लेषः पदश्लेषस्तयोरेतद् विवेचनम् ।।३५।।

सभङ्गो हि पदश्लेषः श्लिष्टत्वात् पदयो र्द्वयोः ।
अर्थश्लेषस्त्वभङ्गो हि श्लिष्टत्वादर्थयो र्द्वयोः ॥३६॥
भङ्गे शब्दपरावृत्त्या भवेन्नार्थद्वयस्य धीः ।
तत्सत्त्वे तादृशी बुद्धिस्तेनायं शब्दभूषणम् ॥३७॥
अर्थश्लेषे तथा नास्ति तेनार्थस्य उदाहृतः ।
अन्वयव्यतिरेकौ हि पदानां भङ्गमागतौ ॥३८॥
शब्दस्य च परावृत्त्या भवेदर्थद्वयस्य धीः ।
अर्थश्लेषस्थले, तेन तं शब्दाभूषणं विदुः ॥३९॥

अलंकारसर्वस्वकार राजानक रुय्यक के मत में जो दो प्रकार का श्लेष है— अर्थश्लेष और शब्दश्लेष उसका यह विवेचन है— ॥३५॥

उनका पदश्लेष ही सभङ्गश्लेष है क्योंकि इसमें दो पद श्लिष्ट रहते हैं और उनका अर्थश्लेष ही अभङ्गश्लेष है क्योंकि इसमें दो अर्थ श्लिष्ट रहते हैं ॥३६॥ सभङ्ग में शब्द परिवर्त्तन से दो अर्थों का बोध न हो सकेगा और उस शब्द के रहने पर वैसी (दो अर्थोंवाली) बुद्धि हो जाती है जिससे यह (सभंग) शब्दालङ्कार ही है ॥३७॥ अर्थश्लेष में ऐसी बात नहीं है, इसलिये वह अर्थालङ्कार ही है, क्योंकि अन्वय और व्यतिरेक ही पदों के सभङ्गत्व का परिचायक होते हैं। अर्थश्लेष में शब्द के परिवर्त्तन से भी दो अर्थों का बोध हो जाता है। अतः वे (रुय्यक) इसे शब्दालंकार नहीं मानते हैं ॥३९॥

उदात्तादिस्वरकृतभेदाद्भिन्नप्रयत्नतः ।
उच्चारणाद् विभिन्नानामर्थानां प्रत्ययो मतः ॥४०॥
अतः शब्दगतश्लेषः सभङ्गः परिकीर्त्तितः ।
शब्दस्यैव चमत्काराधायकत्वेन यन्मते ॥४१॥

यथा— "नारीणामनुकूलमि" त्यादौ [का० प्र० — ३५२]

न अरीणान्नारीणाम् ॥ (३९)

स्वराभेदादभिन्नेन यत्नेनोंच्चार्यतावशात् ।
शब्दाभेदे परिज्ञानमर्थश्लेषेऽर्थयो द्वंयोः ॥४२॥
अर्थद्वयप्रतीत्यायं चमत्कार प्रदायकः ।
अर्थश्लेषोऽयमर्थानामलङ्कारश्च *तन्मते* ॥४३॥

उदात्त, अनुदात्त और स्वरित के भेद से भिन्न-भिन्न प्रयत्न से (एक ही शब्द के) उच्चारण होने पर भी अनेक अर्थों का बोध हो जाता है ॥४०॥

अतः शब्दगत श्लेष को सभंग कहा गया है क्योंकि वहाँ शब्द ही चमत्कारजनक हैं— यह जिनके (रुय्यक के) मत में स्वीकृत किया गया है, [उन्हीं के मत से अभङ्गश्लेष अर्थालङ्कार है] ॥४१॥

जैसे— 'नारीणामनुकूलम्'– यहाँ 'नारीणाम् अनुकूलम्' (स्त्रियों के अनुकूल) और 'न अरीणाम् अनुकूलम्' (शत्रुओं के अनुकूल नहीं) इन दो प्रकारों का बोध होता है। इत्यादि उदाहरण देखा जा सकता है ॥

स्वर के अभेद से एक ही यत्न के द्वारा उच्चारण होने से शब्द के अभेद रहने पर जो बोध होता है, वह अर्थश्लेष (अभंग) है, जिसमें दो अर्थों की प्रतीति होने से चमत्कारजनक है और उनके (रुय्यक के) मत से यह श्लेष (अभङ्ग) अर्थालङ्कार है ॥४२-४३॥

अन्वयव्यतिरेकाभ्यां शब्दालङ्कारता पुनः ।
सिद्धान्तिता[1] *भट्टपादै*रुदाहरणदर्शनात् ॥४४॥
परावृत्त्यसहत्वञ्चेच्छब्दालङ्कारलक्षणम् ।
तदा[2] तदस्त्यभङ्गेऽपि सोदाहरणमुच्यते ॥४५॥

यथा– इयञ्च[3] पल्लवा ताम्रभास्वत्करविराजिता ।
प्रभा सन्ध्येव वास्वापफललुब्धेहितप्रदा ॥ (४०)
[का० प्र० – ३७७]

इयं=गौरी, प्रकरणात् । इयं गौरी, पल्लववदाताम्राभ्यां

१ – भट्टवादेरुदा। २ – तदस्त्यङ्गोऽपि। ३ – (स्वयञ्च) - का० प्र०।

पाणिभ्यां, विराजिता। सुखेन प्राप्तुं शक्यं स्वापम्, न स्वापमस्वापं दुरापमिति यावत्, यत्फलं तत्र लुब्धे जने हितप्रदा।

सन्ध्यापक्षे—पल्लवाताम्रै र्भास्वत्करै विराजिता। अस्वापो जागरणं, [4]तस्य फले लुब्धे ईहितप्रदा।

अत्र प्रथमार्धे भास्वत्पदेऽभङ्गश्लेषः। अस्वापफलेत्यत्र षष्ठीतत्पुरुषेऽन्तोदात्तत्वमिति स्वरभेदे सभङ्गश्लेष उत्तरार्धे। अस्वापं दुरापमित्यर्थः। एवमस्वापाभिन्नं यत् फलमिति कर्मधारयपक्षे पक्षद्वयम्—(१) अस्वापाभिन्नं यत् फलं तत्र लुब्धे हितप्रदेत्येकः पक्षः (२) तत्र लुब्धस्येहितप्रदेत्यपरः पक्षः, गौरीपक्ष एवायमन्वयः।

अस्वापस्य फलमिति षष्ठीतत्पुरुषपक्षे—(१) अस्वापस्य जागरायाः यत्फलं तत्र लुब्धे हितप्रदेत्येकः पक्षः, (२) तत्र लुब्धस्य ईहितप्रदेत्यपरः पक्षः।

एवं नञा लुब्धेन हि समासे—(१) स्वापस्य यत् फलं तत्रालुब्धे हितप्रदेत्येकः पक्षः, (२) तस्य वा ईहितप्रदेत्यपरः पक्षः — सन्ध्यापक्ष एवायमन्वयः।

अत्र कर्मधारयपक्षे आद्युदात्तत्वम्, षष्ठीतत्पुरुषपक्षेऽन्तोदात्तत्वमित्येव भङ्गः। अथवा अस्वापाभिन्नफललुब्ध इति, स्वापभिन्नफलालुब्ध इत्येव भङ्गः। अथवा फललुब्धे हितप्रदा, फललुब्धस्य ईहितप्रदेत्येव भङ्गः। तथा च भास्वत्करपदादेः परिवृत्त्यसहत्वेन पदालङ्कारत्वमेव।

---

४ – तस्मै लुब्धे इति तत्प्रदा।

परन्तु, अन्वय और व्यतिरेक के द्वारा यहाँ (अभङ्गश्लेष में) मम्मट भट्ट ने उदाहरणों को देखकर शब्दालङ्कार को ही सिद्धान्तित किया है ।।४४।। (अभङ्ग स्थल में शब्दगत चमत्कार एवं अर्थगत चमत्काराभाव अन्वय-व्यतिरेक है।)

क्योंकि शब्द के परिवर्त्तन (तदर्थक शब्दान्तर से काम न चलना) को न सहना ही शब्दालङ्कार का लक्षण है, और यह शब्दापरिवृत्ति अभङ्ग में भी है ही, जिसे उदाहरण देकर स्पष्ट किया जा रहा है। अतः सभङ्ग के समान अभङ्ग भी शब्दालङ्कार ही है और अर्थश्लेष इससे भिन्न है यह मम्मट का मत है, जब कि रुय्यक अभङ्ग को ही अर्थश्लेष मानते हैं ।।४५।।

उदाहरण यह (गौरी) सायंकालिक प्रभा जैसी हो पल्लव के समान लाल एवं कान्तिमान हाथों से शोभित तथा दुर्लभ फल के अभिलाषी भक्तों के हितकारिणी है। सन्ध्यापक्ष में – पल्लव के समान रक्त सूर्य की किरणों से शोभित एवं जागरण के फल स्नान सन्ध्यादि। के इच्छुकों के लिये अभिलषित, देनेवाली है ।।

यहाँ पूर्वार्ध के 'भास्वत्कर' पद में अभङ्गश्लेष है और उत्तरार्ध के 'अस्वाप' (न सु आप=सुन्दररूप से प्राप्त होने लायक नहीं, न स्वाप=शयनाभाव) तथा 'लुब्धेहितप्रदा' (लुब्धे हितप्रदा, लुब्ध ईहित प्रदा) पदों में सभङ्गश्लेष है। 'अस्वाप' पद के कर्मधारय पक्ष में (अस्वापाभिन्नं यत् फलम्) आद्युदात्त स्वर है, जब कि षष्ठीतत्पुरुष पक्ष में, (अस्वापस्य फलम्) अन्तोदात्त स्वर है। इस प्रकार स्वरभेद से सभङ्ग हुआ है।

इस प्रकार 'स्वाप' आदि सभङ्ग में एवं 'भास्वत्कर' आदि अभङ्ग में शब्दपरिवृत्त्यसहत्व (शब्दपरिवर्त्तन से श्लेषाभाव) रहने से दोनों शब्दालङ्कार ही है। यही सिद्धान्त पक्ष है।

यद्यभिन्नप्रयत्नेन भवेदुच्चार्यतावशात् ।
अर्थालङ्कारता श्लेषे तदा 'वर्णे भवेन्न सः ।।४६।।

यथा – "प्रतिकूलतामुपगते हि विधावि"त्यत्रैकेनैवौकारेण वर्णद्वयबोधः। प्रयत्नभेदाभावेनार्थश्लेषत्वापत्तिः।

१ – वरुणे।

यदि अभिन्न प्रयत्न से उच्चारण होने के कारण श्लेष में अर्थालङ्कारत्व माना जाय तो वह (अर्थालङ्कारत्व) वर्ण पर आधारित हो ही नहीं सकता है ।।४६।।

जैसे— 'विधौ' इस पद में विधि और विधु शब्दों के सप्तमी के एकवचन में समान रूप से एक ही औकार से इकार और उकार दो वर्णों का बोध होता है। इस औकार के उच्चारण में प्रयत्न भेद न होने से अर्थालङ्कार की आपत्ति आ जाती है। परन्तु वर्णाश्रित होने से यहाँ अर्थालङ्कार नहीं है।

अर्थश्लेषविचारः

अभङ्गो यदि नार्थस्य श्लषो भवति, मन्यते ।
अथ श्लेषस्तदा कः[2] स्यादर्थालङ्कारमध्यगः ।।४७।।
अर्थालङ्कारविषयः को वा स्यादिति कथ्यताम् ।
सभङ्गाभङ्गभेदेन द्वैविध्यं यदि खण्ड्यते ।।४८।।
शब्दस्य तु परावृत्तौ श्लेषो यत्रावतिष्ठते ।
अर्थश्लेषो भवेत् तत्र स उदाह्रियते यथा ।।४९।।
"स्तोकेनोन्नतिमायाति स्तोकेनायात्यधोगतिम् ।
अहो सुसदृशी वृत्तिः तुलाकोटेः खलस्य च" ।। (४१)
[का० प्र० – ३७८]

अत्र स्तोकेनेत्यादि-पदस्थाने अल्पादिपदप्रक्षेपेऽपि न श्लेषभङ्गः ।

अब प्रश्न उठता है कि यदि अभङ्ग श्लेष अर्थालङ्कार नहीं है, यदि ऐसा मानते हैं तो अर्थालङ्कार में कौन सा श्लेष आएगा ।।४७।।

यदि सभङ्ग और अभङ्ग को लेकर दो प्रकार के श्लेष का खण्डन कर एक ही शब्दालंकार में दोनों को समेट लेते हैं तो अर्थालङ्कार का विषय कौन (श्लेष) होगा, यह बतावें ।।४८।। इसका समाधान है कि शब्द के परिवर्त्तन

२ – कस्या ।

से भी जहाँ श्लेष रह जाता है वहाँ अर्थश्लेष होता है, जिसका उदाहरण 'स्तोकेनोन्नतिम्' श्लोक है ॥४९॥

उदाहरण— अहो ! इस तुला (तराजू) के पलड़े और दुर्जन की स्थिति किस प्रकार एक सी है कि थोड़े से ही, उन्नति में आ जाती है और थोड़े से ही अवनति पाती है। पलड़े पर थोड़े ही वस्तु देने से नीचा और थोड़े ही लेने से ऊपर होता है तथा दुर्जन कुछ ही सम्पत्ति पाने पर सीना तान लेता है और थोड़े ही कम होने से फीका पड़ जाता है।

यहाँ स्तोकेन इत्यादि पद के स्थान में अल्प इत्यादि पद देने पर भी श्लेष का भङ्ग नहीं होता अपि तु रहता ही है।

अर्थालङ्कृतिरुपमा श्लेषसम्पादिका यतः ।
तस्मादर्थालङ्कृतीनां मध्येऽर्थश्लेष उच्यते ॥५०॥
[1]मैवं बोध्यं, श्लेष एव उपमोपकृतेः करः ।
सधर्म्यरूपोपमाया उपस्थापकता यतः ॥५१॥
यतस्तथाविधायास्तु उपमाया उपस्थितिम् ।
सम्पादयति स श्लेषस्ततस्तदुपकारकृत् ॥५२॥

यथा—"कमलमिव मुखं मनोज्ञमेतत् कचतितरामि"त्यादि ॥(४२)

अत्र मनोज्ञमिति साधारणधर्मकथनम्। कच दीप्ताविति धात्वनुसारात् मनोज्ञस्वरूपगुणसाम्ये दीप्तिरूपक्रियासाम्ये यथोपमा, तथा श्लेषेऽपि "सकलकलं पुरमि"त्यादौ परपक्षे कलकलः कोलाहलः, सुधांशुबिम्बपक्षे सकला समस्ता कला यत्रेति। एव सकलकलशब्दप्रतिपाद्यस्वरूपोपमां श्लेष एवोपपादयति।

उपमा, जो अर्थालंकार है, वही श्लेष बनाती है और इसीलिये अर्थश्लेष को अर्थालङ्कारो में स्थान दिया जाता है ॥५०॥

ऐसा मत जानें, क्योंकि श्लेष ही उपमा का उपकार करता है। इसी के द्वारा साधर्म्य रूप उपमा उपस्थापित होती है ॥५१॥

१ – मैवं बोध्यं यतः श्लेष एव उपमोपकृते क्षरः ।

जिस लिये उस प्रकार को उपमा की उपस्थिति को श्लेष सम्पादित करता है, अतः यह उपमा का उपकारक है ।।५२।।

जैसे— कमल के समान यह मुख सुन्दर एवं कान्तिमान है।

यहाँ 'मनोज्ञ' साधारण धर्म है, 'कच दीप्तौ' इस धातु के अनुसार। मनोज्ञत्वरूप आस्य में एवं दीप्तिरूप क्रिया साम्य में जैसे उपमा है, वैसे ही श्लेष में भी 'यह नगर और चन्द्रबिम्ब सकलकल' (कलकल=कोलाहल सहित और सकल कला से युक्त) है। इस तरह 'सकलकल' शब्द ने प्रतिपाद्य (बोधशील) रूप उपमा को श्लेष ही उपपादित करता है।

५ – पुनरुक्तवदाभासः[४]

पुनरुक्तवदाभासत्वं च[5] पुनरुक्तत्वेन प्रतीयमानत्वे सति असमानाकादक-शब्दत्वम् ।

एतच्च शब्दस्य सार्थकत्वे निरर्थकत्वे च भवति। निरर्थकञ्च समुदायशक्तिरहितत्वम्। अयं सभङ्गाभङ्गभेदेन त्रिधा। तत्र--

(१) सभङ्गे यथा –

अरिवध देहशरीरः सहसा रथिसूत-तुरगपादातः ।
भाति सदानत्यागः स्थिरतायामवनितलतिलकः ।। (४३)

[का० प्र० – ३८९]

(२) अभङ्गे यथा—

तनुवपुरजधन्योऽसौ[6] करिकुञ्जररुधिररक्तखरनखरः ।
तेजोधाम महः पृथुमनसामिन्द्रो हरि जिष्णुः ।। (४४)

[का० प्र० – ३९१]

।। इत्यलङ्कारसमुद्गे शब्दालङ्कारसमुच्चयः ।।

---

४ – (मूलहस्तलेखे अस्यालंकारस्य लक्षणोदाहरणानि टिप्पणी रूपेण,दृश्यन्ते।)
५ – (अभावः)। ६ – तनुवपुकरि।

पुनरुक्त (कहे वस्तु को ही पुनः कहना) रूप से प्रतोयमान (ज्ञायमान) रहते पर भी समानाकारक (तुल्यरूपवाला) शब्द से भिन्न रूप के शब्द रहने पर पुनरुक्तवदाभास अलङ्कार होता है । और यह शब्द के सार्थक एवं निरर्थक में भी रहता है। निरर्थक उसे कहते हैं जहाँ समुदाय (तादृशवर्णानुपूर्वीक वर्णसमुदाय) में शक्ति न रहे। यह सभङ्ग और अभङ्ग के भेद दो प्रकार का होता है। उसमें--

(१) सभङ्ग का उदाहरण--

यह पृथ्वींतिलक राजा सदा अपने विनय के कारण (सदा नत्या) शोभित होता है जो (राजा) शत्रुबध पर दत्तचित्त शरधारियों कों प्रेरित करनेवाला है, शीघ्र ही अपने रथारोहियों के साथ घुड़सवारों एवं पदातियों को तत्पर रखनेवाला है और युद्ध में अडिग रहने वाला पर्वततुल्य है। (अरिवधदा शत्रु विनाशिनी ईहा चेष्टा येषां ते अरिवधदाः ये शरिणः, तान् ईरयति इति अरिवधदेहशरीरः। सहसा रथिभिः सुष्ठु उताः सम्बद्धाः तुरगाः पादाताश्च यस्य।) यहाँ देह-शरीर, रथि-सूत, दान-त्याग ये शब्द पुनरुक्त जैसे लगते हैं।

(२) अभङ्ग का उदादरण--

यह सिंह (हरि) कृशकाय होते हुए भो [तनुवपुः] अमित बलशाली [घजघन्यः] है, श्रेष्ठ [=कुंजर] हाथियों के रुधिर से लिपटे लाल-लाल तीक्ष्ण नखों वाला है [करिकुञ्जररुधिररक्तखरनखरः], एकमात्र तेज का आधार [तेजोधाम] है, शक्ति के कारण स्वाभिमानी प्राणियों में सबसे बड़ा [महःपृथुमनसामिन्द्र.] और जिष्णु है।

यहाँ तनु-बपु, करि-कुञ्जर, रुधिर-रक्त, तेज-धाम-महस् और इन्द्र-हरि-जिष्णु शब्दों में पुनरुक्ता का आभास होता है, जबकि है नहीं।

॥ अलंकार समुद्ग में शब्दालंकार[7] का संग्रह समाप्त ॥

---

७ – वक्रोक्तिरप्यनुप्रासो यमकं श्लेषचित्रके।
पुनरुक्तवदाभासः शब्दालंकृतयस्तु, षट्॥ [सोमेश्वरकृतकाव्यप्रकाशसंकेत]

**

अथ

अर्थालङ्कारसमुच्चयः

अथार्थालङ्कारा निरूप्यन्ते—

उपमा प्रथमा प्रोक्ताऽनन्वयस्त्वपरो मतः ।
उपमेयोपमोत्प्रेक्षा[1] रूपकापह्नुती तथा ॥५३॥
अर्थश्लेषः समासोक्तिः तथा ज्ञेया निदर्शना ।
अप्रस्तुतप्रशंसाख्या तथैकातिशयोक्तिका ॥५४॥
प्रतिवस्तूपमा ज्ञेया तथा दृष्टान्त-दीपके ।
तुल्ययोगित्वनामैको व्यतिरेकस्तथा परः ॥५५॥
आक्षेपनामालङ्कारोऽलङ्कृतिश्च विभावना ।
विशेषोक्तिस्तथा ज्ञेया यथासंख्यस्तथैव च ॥५६॥
एवमर्थान्तरन्यासो विरोधाभासनामकः ।
स्वभावोक्तिस्तथा ज्ञेया व्याजोक्तिः स्तुति-निन्दयोः ॥५७॥
एका सहोक्तिरपरा विनोक्तिः परिकीर्त्तिता ।
परिवृत्तिरलङ्कारो भाविकं काव्यलिङ्गकम् ॥५८॥
पर्यायोक्तिरुदात्तञ्च तथैव च समुच्चयः ।
पर्यायतानुमानञ्च प्रोक्तः परिकरस्तथा ॥५९॥
व्याजोक्तिः परिसंख्या च[2] तथैवान्योन्यमुत्तरम् ।
सूक्ष्म-सारौ तथा ज्ञेयौ विज्ञेयाऽसंगतिस्तथा ॥६०॥
समाधिस्तु समेन स्याद् विषमस्त्वधिकेन च ।
[3]प्रत्यनीकं मीलितं च तथैवैकावली-स्मृती ॥६१॥

---

1 – यहाँ सन्देहालंकार का नाम छूटा हुआ है। 2 – यहाँ कारणमाला का नाम छूटा हुआ है। 3 – प्रत्यलीकञ्च मिलितं ।

भ्रान्तिमाँश्च प्रतीपश्च सामान्यञ्च विशेषकः ।
तद्गुणातद्गुणौ चैव व्याघातः परिकीर्त्तितः ॥६२॥
संसृष्टि-संकरौ चैवमेकषष्टिरुदीरिताः ।
रसवांश्च तथा प्रेयानूर्जस्वी च समाहितः ॥६३॥
एतेऽलङ्कारचत्वारो रसोपाधिकृतास्तथा । ६४॥

अब अर्थालङ्कार का निरूपण किया जा रहा है — उनमें पहली उपमा, दूसरा अनन्वय, उसके बाद उपमेयोपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, सन्देह, अपह्नुति, अर्थश्लेष, समासोक्ति, निदर्शना, अप्रस्तुतप्रशंसा, अतिशयोक्ति, प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त, दीपक, तुल्ययोगिता, व्यतिरेक, आक्षेप, विभावना, विशेषोक्ति, यथासंख्य, अर्थान्तरन्यास, विरोधाभास, स्वभावोक्ति, व्याजोक्ति (व्याजस्तुति एवं व्याजनिन्दा), सहोक्ति, विनोक्ति, परिवृत्ति, भाविक, काव्यलिङ्ग, पर्य्यायोक्ति, उदात्त, समुच्चय, पर्याय, अनुमान, परिकर, व्याजोक्ति, परिसंख्या, कारणमाला, अन्योन्य, उत्तर, सूक्ष्य, सार, असंगति, समाधि, सम, विषम, अधिक, प्रत्यनीक, मीलित, एकावली, स्मृति, भ्रान्तिमान्, प्रतीप, सामान्य, विशेष, तद्गुण, अतद्गुण, व्याघात, संसृष्टि और संकर – ये (६१) एकसठ अर्थालङ्कार हैं। तथा रसवान्, प्रेयान्, ऊर्जस्वी और समाहित ये चार अलंकार रस पर आधारित होते हैं॥ अतः ६५ अर्थालङ्कार हो जाते हैं ॥५३–६४॥

यह अलंकारों की सूची काव्य प्रकाश के अनुसार उसी क्रम में है। यहाँ उनमें केवल ससन्देह और कारणमाला ये दो अलंकार उल्लिखित नहीं हैं और रसवदादि चार अलंकार अधिक हैं।

१ – उपमा

भिन्नत्वे सति साधर्म्यं प्रकृताप्रकृतत्वयोः ।
सत्यमारोपितं वा स्यादुपमा सा प्रकीर्त्तिता ॥६५॥
प्रकृतं वर्णनीयं यत् कामिनीवदनादिकम् ।
येनोपमीयते तच्च चन्द्राद्यप्रकृतं स्मृतम् ॥६६॥

प्रकृत (प्रस्तुत) और अप्रकृत के भिन्न रहने पर यथार्थ या आरोपित जो साधर्म्य (किसी धर्म में सादृश्य) उसे उपमा कहा गया है ॥६५॥

प्रकृत उसे कहते हैं जिसका वर्णन किया जा रहा हो, जैसे – 'चन्द्र इव कामिनीवदनम्' — यहाँ वदन प्रकृत है। जिसके साथ तुलना की जाती है वह अप्रकृत है, जैसे इसी उदाहरण में चन्द्र अप्रकृत ही है ॥६६॥

अस्या भेदानहं वक्ष्ये रसविद्याविशारदैः ।
विवेचिता ये तान् सर्वान् प्रीतये कविबादरेः ॥६७॥
उपमा-विशेषधर्मावुपमानोपमेयकौ ।
बोधयन्तो यदा शब्दाः सन्ति, पूर्णोपमा तदा ॥६८॥
पूर्णा च द्विविधा प्रोक्ता श्रौती चार्थी निगद्यते ।
सादृश्यबोधको यत्र शक्त्या शब्दः प्रयुज्यते ।
श्रौती स्यादुपमा तत्र यतः शक्त्यैव बोधिता ॥६९॥
तुल्यादयो यत्र शब्दा विशिष्टप्रतिपादकाः ।
आर्थी स्यादुपमा तत्र यतोऽर्थादवगम्यते ॥७०॥

इसके (उपमा के) जिन भेदों को रसशास्त्र (काव्यशास्त्र) के पण्डितों ने विवेचित किया है उन सभी भेदों को मैं कवि बादरि (मैथिलीभाषा के कवि कृष्णकेलिमालानाटिकाकार नन्दीपति) की प्रसन्नता के लिये कहूँगा ॥६७॥

उपमा के विशेष (वाचक शब्द यथा इव आदि) और धर्म (साधारण धर्म) तथा उपमान (जिससे उपमित किया जाता है वह अप्रकृत चन्द्रादि) और उपमेय (प्रकृत, मुखादि) इन चारों के बोधक शब्द यदि प्रयुक्त रहें तो पूर्णोपमा होती है। 'मुख चन्द्रमा के समान आह्लादक है' यहाँ मुख उपमेय, चन्द्रमा उपमान, वाचक शब्द आह्लादक साधारण धर्म है। अतः यहाँ पूर्णोपमा है। उक्त चारों में एक या अधिक के बोधक शब्द के प्रयुक्त न रहने पर उपमा को लुप्ता कहते हैं। इस प्रकार पहले उपमा के दो भेद होते हैं— (१) पूर्णोपमा और (२) लुप्तोपमा ॥३८॥

पूर्णा दो प्रकार की होती है— (१) श्रौती और (२) आर्थी। जहाँ सादृश्य-बोधक शब्द [यथा, इव, वा] शक्ति के द्वारा [साक्षात्] प्रयुक्त होते हैं वहाँ श्रौती उपमा रहती है क्योंकि वहाँ शक्ति के द्वारा साक्षात् ही सादृश्य बोधित है ॥६६॥

जहाँ तुल्य, सम, सदृश आदि शब्द सादृश्यविशिष्ट [सदृश] के प्रतिपादक [बोधक] प्रयुक्त रहते हैं, वहाँ आर्थी उपमा होती है, क्योंकि वहाँ सादृश्य की प्रतीति अर्थ से ही होती है, शब्द से नहीं [शब्द से तो सदृश की ही प्रतीति होती है, न कि सादृश्य=सदृशविशिष्ट की] ॥७७॥

उपात्तं वत्पदं यत्र सादृश्य-प्रतिपादकम् ।
तत्र स्यात् कुत्रचिच्छ्रौती स्यादार्थी कुत्रचित् पुनः ॥७२॥
"तस्येव"-विधिना काव्य इवार्थेषु प्रयुज्यते ।
वत्पदं यत्र तत्रैव श्रौती स्यादुपमा पुनः ॥७३॥
"तेन तुल्य"-विधानेन तुल्यार्थेषु प्रयुज्यते ।
वत्पदं यत्र तत्रार्थी स्यादेषालङ्कृतिः पुनः ॥७४॥

तद्वत्, ब्राह्मवत् आदि में जहाँ वत् पद सादृश्य का बोधक हो (उपात्तं =कथितं) वहाँ कहीं पर श्रौती और कहीं पर आर्थी उपमा होती है ॥७२॥

जहाँ वत् पद "तत्र तस्येव (पा० ५।१।१११६)" इस विधिसूत्र के द्वारा इव के अर्थ (सदृश) में प्रयुक्त होता है, वहीं श्रौती उपमा होती है ॥७३॥

जहाँ "तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः" (पा० ५।१।११५) इस विधिसूत्र के द्वारा तुल्यार्थ (सादृश्य) में वत् पद प्रयुक्त होता है, वहाँ आर्थी उपमा अलंकार होता है ॥७४॥

वाक्यस्थेयं समासस्था श्रौती तद्धितगा तथा ।
एवमेव त्रिधा प्रोक्ता आर्थी या परिकीर्त्तिता ॥७५॥
सादृश्यं तद्द्वयो धर्ममुपमानोपमेयकौ ।
शब्दा वाक्येऽसमस्तास्तु प्रत्येकं बोधयन्ति हि ॥७६॥

(१) वाक्ये पूर्णा श्रौती, यथा—

स्वप्नेऽपि समरेषु त्वां विजयश्री र्न मुञ्चति ।
प्रभाव-प्रभवं कान्तं स्वाधीनपतिका यथा ॥ (४५)
[का० प्र० – ३९२]

अत्र विजयश्रीरुपमेया, स्वाधीनपतिकोपमानं, न मुञ्चतीति साधारणो धर्मः, शक्त्या यथेत्युपमाप्रतिपादकम् ।

यह श्रौती उपमा (१) वाक्यगा (वाक्य में रहनेवाली), (२) समासगा और (३) तद्धितगा इन भेदों से तीन प्रकार की है। इसी प्रकार आर्थी उपमा भी उसी नाम से (वाक्यगा, समासगा और तद्धितगा) तीन प्रकार की कही गयी है ॥७५॥

वाक्य में असमस्त (समास न किये हुए) शब्द जहाँ उन दोनों (उपमान और उपमेय) के सादृश्य और साधारण धर्म को तथा उपमान और उपमेय को साक्षात् बतलाते हैं, वहाँ वाक्यगा श्रौती पूर्णोपमा होती है ॥७६॥

(१) वाक्यगा श्रौती पूर्णोपमा का उदाहरण –

हे राजन् ! यह विजय-श्री आप को युद्ध में तथा स्वप्न में भी उसी प्रकार नहीं छोड़ती है जिस प्रकार स्वाधीनपतिका नायिका अपने प्रभाव से अनुरक्त प्रियतम को नहीं छोड़ती है।

यहाँ विजयश्री उपमेय, स्वाधीनपतिका उपमान, न मुञ्चति (अपरित्याग) साधारण धर्म और यथा उपमावाचक शब्द शक्ति के द्वारा सादृश्य प्रतिपादक है। अतः उपमा के चारों अंग रहने से तथा शक्त्या सादृश्य प्रतिपादित होने से यहाँ वाक्यगा श्रौती पूर्णोपमा है।

सादृश्यादि-चतुर्णान्तु बोधकानां यदा पुनः ।
मध्ये पदानां पदयोः समासः स्यात् समासगा ॥७७॥

(२) समासे श्रौती यथा—

अत्यायतै [1]विनयकारिभिरुद्धतानां
दिव्यैः प्रभाभिरनपायमयैरुपायैः ।
शौरे भुंजैरिव चतुर्भिरदः सदायो
लक्ष्मीविलासभवनै र्भुवनं बभार ॥ (४६)

[का० प्र० – ३९४]

विनयकारिभि र्वंशीकरणप्रयोजकैः, चतुर्भिरुपायैः सामदान-भेददण्डैः, सदायः समीचीनः । अत्रोपमानं शौरिभुजा, उपमेया उपायाः, उद्धतनियामकत्वं साधारणधर्मः, भुजैरित्यनेन समस्त 'इवः' शक्त्या सादृश्यबोधकः ।

जहाँ सादृश्यादि चारों अर्थों (सादृश्य, साधारण धर्म, उपमान और उपमेय) के बोधक शब्दों का दो या अधिक पदों के अन्तर्गत मिलितरूप से समावेश हो वहाँ समासगा श्रौती पूर्णोपमा होती है ।।७७।।

(२) समासगा श्रौती पूर्णोपमा का उदाहरण—

अत्यन्त विस्तृत, उद्धतों को विनीत करनेवाले, महाप्रभाव, निरापद, राज्यश्री के वैभव का आधार, अपने साम-दाम-दण्ड-भेदरूप चारों उपायों से समीचीन (सदाय) यह (राजा) साम्राज्य का भरण-पोषण करता है जैसा कि विष्णु के चारों भुजाएँ आजानु विस्तृत, दानवों के दमन करनेवाले, दिव्य, महान् ऐश्वर्ययुक्त, कान्तियुक्त एवं लक्ष्मी के विलास के एकमात्र आधार होते हुए भुवनमण्डल का भरण करते हैं ।

यहाँ 'शौरिभुजा' उपमान, 'उपायाः' उपमेय, उद्धतनियामकत्व साधारण धर्म और 'भुजैः' के साथ समास किया हुआ इव शब्द शक्ति के द्वारा सादृश्य-बोधक है । 'भुजैरिव' में "इवेन समासो विभक्त्यलोपश्च" इस वार्तिक के अनुसार समास और विभक्ति का आलोप हुआ है । 'भुजैः' तो समासैकदेश

1 – नियमकारिभि — का० प्र० ।

होने से अत्यायतैः के साथ शाब्दिक अन्वय नहीं रख सकता है किन्तु आर्थिक अन्वय रखता ही है। 'भुजैरिव' के समस्त पद होने से ही यह समासगा का उदाहरण है।

'तस्येवेति'-विधानेन विहितं वत्पदं पुनः ।
यत्रास्ति तद्धिते श्रौतो सा पूर्णा परिकीर्त्तिता ॥७८॥

(३) [1]तद्धितगा श्रौती यथा—

गाम्भीर्य-महिमा तस्य सत्यं गङ्गाभुजङ्गवत् ॥ (४७)

[का॰ प्र॰ – ३९६]

अत्र गङ्गाभुजङ्गस्येव गाम्भीर्यं "तस्येवे"त्यादिनैव विहितं वत् सादृश्यवाचकम्, उपमानं गङ्गाभुजङ्गस्समुद्रः, राजा उपमेयः, गाम्भीर्यं साधारणो धर्मः।

"तत्र तस्येव" (पा॰ ५।१।११६) इस पाणिनीय सूत्र के विधान से विहित 'वत्' पद जहाँ प्रयुक्त हो वहाँ तद्धितगा श्रौती पूर्णोपमा कही गयी है ॥७८॥

(६) तद्धितगा श्रौती पूर्णोपमा का उदाहरण—

उस राजा के गम्भीरता की महत्ता सचमुच में गङ्गा के प्रियतम [समुद्र या शन्तनु] के समान है।

यहाँ "तत्र तस्येव" सूत्र मे विहित वत् [तद्धित प्रत्यय] सादृश्यवाचक है। उपममान समुद्र, उपमेय राजा और साधारण धर्म गाम्भीर्य है।

असमस्ता यथा शब्दा उपमानादिबोधकाः ।
तथा तुल्यादिशब्दश्च तत्रार्थी वाक्यगा स्मृता ॥७९॥

(४) [2]वाक्यगा आर्थी यथा—

चकितहरिणलोललोचनायाः
क्रुधि तरुणारुणतारहारि-कान्ति ।

---

1 – यथा। 2 – यथा।

सरसिजमिदमाननं च तस्याः
समामिति चेतसि [3]सम्मदं विधत्तो ॥ (४२)
[का० प्र० – ३९३]

तरुणस्यारुणस्येव तारा उद्भटा हारिणी कान्ति र्यस्य तादृशम्। अत्र सरसिजमुपमानम्, आननमुपमेयं, तरुणत्यादि साधारणधर्म-वाचकम्। समशब्देन सादृश्यविशिष्टबोधः।

जहाँ समास न किये हुए उपमानादि बोधक शब्द एवं तुल्यादि (सादृश-वाचक) शब्द हो वहाँ वाक्यगा आर्थी पूर्णोपमा कही गयी है ॥७९॥

(४) वाक्यगा आर्थी पूर्णोपमा का उदाहरण —

चकित हरिण के समान चञ्चल आँखों वाली नायिका का यह मुँह, जो क्रोध में तरुण अरुण के समान उद्भट (तार) एवं मनोरम कान्तिवाला हो जाता है, और यह कमल – ये दोनों समान हो जाते हैं। इसीलिए नायक के हृदय में यह (मुख) हर्ष उत्पन्न करता है।

यहाँ 'सरसिज' उपमान, 'आनन' उपमेय, 'तरुणारुणतारहारिकान्ति' साधारण धर्म और 'सम' शब्द सादृश्यविशिष्ट (सदृश) का बोधक है। यहाँ 'सम' शब्द से साक्षात् सादृश्य (उपमा) का बोध नहीं होता है अपि तु सदृश अर्थ का, और उससे अर्थतः सादृश्य प्रतीत होता है। अतः यहाँ आर्थी उपमा है।

तेषां पदानां मध्ये चेत् समासः स्यात् कयोरपि।
आर्थी पूर्णोपमा तत्र समासस्था प्रकीर्त्तिता ॥८०॥

(५) [4]समासगा आर्थी पूर्णोपमा यथा—

अवितथमनोरथपथप्रथनेषु प्रगुणगरिमगीतश्रीः।
सुरतरुसदृशः स भावनभिलषणीयः[5] क्षितीश्वर ! कस्य ॥(४९)
[का० प्र० – ३९५]

3 – संविदं। 4 – यथा। 5 – नभिनयनीयः।

अत्र सुरतरुपदेन सह समस्तं सादृश्यविशिष्टबोधकं सदृशपदं, सुरतरुरुपमानं, क्षितीश्वर उपमेयः, ⁶अवितथेत्यादिकं साधारण-धर्मबोधकम् ।

उन [वाक्यगा के लक्षण में निर्दिष्ट] पदों में किसी में यदि समास देखा जाय तो वहाँ समासस्था आर्थी पूर्णोपमा कही गयी है ॥८०॥

(५) समासगा आर्थी पूर्णोपमा का उदाहरण—

हे राजन् ! लोगों के सफल मनोरथों के पथविस्तार में [सफलता की वृद्धि में] उत्कृष्ट गुणों के महिमा के कारण जिसकी सम्पत्ति (श्री) का गान हो रहा है, ऐसे कल्पवृक्ष के समान आप किसकी अभिलाषा के विषय नहीं हैं ?

यहाँ 'सुरतरु' पद के साथ समास किया हुआ सदृशपद सादृश्य से विशिष्ट का बोधक है, सुरतरु उपमान, क्षितीश्वर उपमेय और अवितथ-इत्यादि पद साधारण धर्मबोधक है ।

"तेन-तुल्य'-विधानेन प्रयुक्तं वत्पदं पुनः ।
यदा तदा तद्धितगा आर्थी सा परिकीर्त्तिता ॥८१॥

(६) ⁷तद्धितगा आर्थी पूर्णोपमा यथा—

दुरालोकः स समरे निदाघाम्बररत्नवत् (५०)

[का० प्र० – ३१६]

अम्बरवदित्यादौ "तेन तुल्यमि"त्यनेनैव विहितं वत्पदं सादृश्यविशिष्टवाचकम्, अम्बररत्न उपमानं, स इति उपमेयवाचकं दुरालोक इति साधारणधर्मबोधकम् ।

जहाँ 'तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः" [पा० ५।१।११६] इस पाणिनीयसूत्र से विहित 'वत्' पद प्रयुक्त हो वहाँ तद्धितगा आर्थी पूर्णोपमा होती है ॥८१॥

(६) तद्धितगा आर्थी पूर्णोपमा का उदाहरण—

6 – स अवि। 7 – यथा ।

वह राजा ग्रीष्म के सूर्य के समान युद्ध में आँखों को चकाचौंध देनेवाला है।

'अम्बररत्नवत्' में "तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः" सूत्र से विहित वत् पद सादृश्यविशिष्ट (सदृश) का वाचक है। अम्बररत्न उपमेय, , और दुरालोक साधारणधर्मबोधक हैं।

पदानामुपमानादि-चतुर्णां वाचिकं यदा ।
मध्ये कस्यापि लोपः स्याल्लुप्ता स्यादुपमा तदा ॥८२॥
तस्या अपि भवेदेव श्रौतीत्यादि-भिदा द्वयम् ।
परन्तु कस्यचिल्लोपे विशेषोऽस्तीति वक्ष्यते ॥८३॥
शाब्दी द्विधा, त्रिधा चार्थी, लुप्ता पञ्चविधा स्मृता ।
धर्मलोपे विशेषोऽयमन्यलोपात् प्रवक्ष्यते ॥८४॥
वाक्ये गता समासे च श्रौत्याश्चेति भिदा द्वयम् ।
वाक्ये समासे तद्धिते च स्यादार्थीति भिदा त्रयम् ॥८५॥

(१) धर्मलोपे [8]लुप्ता वाक्यगा श्रौती यथा —

धन्यस्यानन्यसामान्य-सौजन्योत्कर्षशालिनः ।
करणीयं वचश्चेतः सत्यं तस्यामृतं यथा ॥ (५१)
[का० प्र० – ३१७]

तस्य करणीयं वचः, च पुनः, चेतः यथामृतमित्यन्वयः। अत्र करणीयवचश्चेतांसि उपमेयानि, अमृतमुपमानं, यथाशब्दः सादृश्यवाचकः। साधारणधर्मवाचकाभावाल्लुप्ता।

लुप्तोपमा—

उपमा, उपमेय, साधारण धर्म और सादृश्य इन चारों के वाचक शब्दों में से किसी एक, दो या तीन के न रहने (लुप्त रहने) पर उपमा को लुप्ता कहते हैं ॥८२॥

8 – लुप्ता श्रौती।

उस लुप्तोपमा के भी श्रौती और आर्थी ये दो भेद होते हैं। परन्तु उनमें किसी के लोप में विशेष बात कही जायगी ॥८३॥

[उपमाबोधक सादृश्यादि चारों शब्दों में तीन तक का लोप देखा जाता है। तदनुसार इसके तीन भेद हैं-- (१) एकलुप्ता, (२) द्विलुप्ता, और (३) त्रिलुप्ता। द्विलुप्ता के तीन भी तीन भेद हैं— (१ धर्मवाचक लुप्ता, (२) धर्मोपमान लुप्ता और (३) धर्मोपमेय लुप्ता। त्रिलुप्ता एक प्रकार की ही है— धर्मोपमानवाचकलुप्ता।]

धर्म के लोप होने पर शाब्दी (श्रौती) दो प्रकार की और आर्थी तीन प्रकार की होती है। इस तरह धर्मलुप्ता उपमा पाँच प्रकार की है। उपमान एवं उपमेय के लोप की अपेक्षा धर्मलोप में जो विशेष है, वह कहा जा रहा है ॥८४॥

धर्मलुप्ता में श्रौती के वाक्यगता और समागता इन भेदों से दो भेद हैं (इस में तद्धितगा नहीं होतो है) और आर्थी के वाक्यगा, समासगा और तद्धितगा ये तीन भेद हैं ॥८५॥

धर्मलुप्ता वाक्यगा श्रौती के उदाहरण :—

हे चित्त ! असाधारण सौजन्य की अधिकता से युक्त तथा सर्वोत्कृष्ट उस सज्जन के अमृत-तुल्य वचन का निश्चय पालन करना चाहिए।

यहाँ 'करणीयं वचश्चेतः' उपमेय, अमृत उपमान और यथाशब्द सादृश्यवाचक है। साधारण धर्मवाचक शब्द के न रहने से यह धर्मलुप्ता उपमा है।

(२, ३, ४) धर्मलोपे समासगा श्रौती यथा—

करवाल इवाचारस्तस्य वागमृतोपमा ।
विषकल्पं मनो वेत्सि यदि जीवसि तत् सखे ! ॥ (५२)

[का० प्र० – ३६६]

अत्राचार उपमेयः, करबाल उपमानं, करवाल-शब्देन समस्तम् इवपदं शक्त्या सादृश्यवाचकं, साधारणधर्माभावाल्लुप्ता।

अत्रैव समासगा आर्थी लुप्ता, तद्धितगा च आर्थी लुप्ता।

तथा हि—

अमृतोपमेति समासगा, अमृतपदेन सह समस्तेनोपमपदेन सादृश्यविशिष्टबोधनादार्थी। साधारणधर्मवाचकाभावाल्लुप्ता।

विषकल्पमिति तद्धितगा। कल्पपशब्दस्य सादृश्यविशिष्टवाचकत्वादार्थी। साधारणधर्मवाचकाभावाल्लुप्ता।

धर्मलुप्ता समासगा श्रौती का उदाहरण—

इसी श्लोक में धर्मलुप्ता आर्थी के समासगा एवं तद्धितगा इन दोनों का उदाहरण है—

हे मित्र! उस दुष्ट व्यक्ति का आचार तलवार के समान है, उसका वचन अमृत के समान है और मन विष के समान है, यदि इस बात को समझते हो तो इस संसार में जी सकते हो।

यहाँ आचार उपमेय, करबाल उपमान, करवाल पद के साथ समस्त इव पद शक्ति के द्वारा सादृश्य का वाचक है और साधारणधर्म का अभाव है। अतः यहाँ धर्मलुप्ता समासगा श्रौती उपमा है। "करवाल इव" में "इवेन समासो विभक्त्यलोपश्च" इस नियम के अनुसार समास एवं विभक्ति का अलोप हुआ है।

'अमृतोपमा' पद में अमृत पद के साथ समस्त उपमा पद से सादृश्यविशिष्ट (सदृश) के बोध होने से आर्थी समासगा लुप्ता है क्योंकि साधारणधर्म का अभाव है।

'विषकल्पम्' में तद्धितगा आर्थी लुप्तोपमा है, 'कल्पप्' तद्धित प्रत्यय है जो सादृश्यविशिष्ट का वाचक है, यहाँ धर्म एवं वाचक का अभाव है।

(५) [1]धर्मलोपे वाक्यगा आर्थी यथा—

1—वाक्यगा आर्थी यथा।

आकृष्टकरवालोऽसौ सम्पराये परिभ्रमन् ।
प्रत्यर्थिसेनया दृष्टः कृतान्तेन समः प्रभुः ।। (५३)
[का० प्र० – ३९८]

उपमेयवाचकम् 'असौ'-पदम्, उपमानवाचकं कृतान्तपदम्, सादृश्यविशिष्टवाचकं समपदम्, साधारणधर्मवाचकाभावात् लुप्ता। न चाकृष्टकरवालत्वमेव साधारणधर्मबोधकमस्तु, दण्डायुधे यमे तदभावात् ।

धर्मलुप्ता वाक्यगा आर्थी उपमा का उदाहरण –

तलवार खींचकर युद्धभूमि में घूमता हुआ वह राजा शत्रुसेना के द्वारा यमराज के समान देखा गया ।

यहाँ उपमेय 'असौ' पद, उपमान 'कृतान्त' पद, तथा सदृश्यवाचक 'सम' पद है। साधारणधर्मवाचक के अभाव में लुप्ता है। 'आकृष्ट-करवाल' पद को साधारणधर्म नहीं कहा जा सकता है क्योंकि दण्डायुध कृतान्त (यम) में वह सम्भव नहीं है।

नित्यं धर्मस्य साकांक्ष 'तस्येवेति' कृतं पदम् ।
वदादि, सति धर्मस्य लोपे सम्भावितं कुतः ।।८६।।
वाचकस्योपमानस्य लोप आर्थी द्विधा स्मृता ।
न श्रौती तत्र भवति न वा तद्धितगा पुनः ।।८७।।
यत्रोक्ता वैयथेवादिशब्दाः सादृश्यवाचकाः ।
तत्र श्रौती संभवति सा न स्यात् तादृशस्थले ।।८८।।
यथेवादिपदानां च प्रयोगो नियमाद् यतः ।
वाचकादुपमानस्य तस्मात् सा नेदृशस्थले ।।८९।।
वदादितद्धितस्यापि प्रयोगो नियतो यतः ।
वाचकादुपमानस्य तस्मात् सा नेदृशस्थले ।।९०।।

वाचकादुपमानस्य लोप आर्थी द्विधा मता ।
वाक्ये समासे स्यादेवं तदुदाहरणे स्फुटम् ॥६१॥

'तत्र तस्येब' सूत्र के द्वारा किया हुआ वत् पद अपने साधारणधर्म के प्रति नित्य साकांक्ष रहता है। अर्थात् उसके विना वत् पद आ ही नहीं सकता। अतः धर्म के लोप में उसकी सम्भावना भी कैसी होगी ? इसीलिये धर्मलुप्ता उपमा तद्धितगा नहीं होती है ॥८६॥

उपमानलुप्ता उपमा - उपमान के वाचक शब्द के लुप्त रहने पर आर्थी उपमा दो प्रकार की होती है। यहाँ श्रौती और आर्थीकी तद्धितगा नहीं होती है। इसमें तो (१) वाक्यगा आर्थी उपमानलुप्ता उपमा और (२) समासगा आर्थी उपमानलुप्ता उपमा — ये दोनों ही देखी जाती है ॥८७॥

जहाँ वै, यथा, इव आदि शब्द सादृश्यवाचक रहते हैं, वहीं श्रौती का होना संभव है। उसके विना ऐसे स्थल में श्रौती नहीं हो सकती है क्योंकि इवादि शब्द उपमान के साथ ही रहते हैं ॥८८॥

यथा, इव आदि पदों के प्रयोग उपमानवाचक शब्द से नियमित हैं। अतः यहाँ श्रौती नहीं होती है ॥८९॥

'वत्' आदि तद्धित प्रत्यय का प्रयोग भी उपमानवाचक शब्द से नियत रहते हैं। अतः यहाँ तद्धितगा भी नहीं होती है ॥९०॥

अतः उपमानवाचक शब्द के लोप होने पर आर्थी उपमा दो ही प्रकार की होती है — (१) वाक्यगा और (२) समासगा। यह उदाहरण में स्पष्ट है ॥९१॥

(१) वाक्यगा[1] उपमानलुप्ता आर्थी यथा—

सभल करण परबीसाम सिरिविअरणं ण सरस-कव्वस्स ।
दीसइ अहवा णिसम्मइ सरिसं अंसंसमेत्तेण ॥ (५४)

1 — वाक्यगा यथा ।

[सकल-करण-परिविश्राम-श्रीवितरणं न सरस-काव्यस्य ।
दृश्यते अथवा निशम्यते सदृशमंशांशमात्रेण ।।]
[का० प्र० – ४००]

अत्र सरसकाव्यमुपमेयं, सकलेत्यादि समानधर्मकथनं, सदृशमित्युपमाविशिष्टबोधकं पदम् । उपमानबोधकाभावाल्लुप्ता ।

(२) समासगा[2] उपमानलुप्ता यथा—

सअल-करण-परबीसाम-सिरिविअरणं ण सरस-कव्वसमम् ।
दीसइ अहवा णिसम्मइ णूणं असंसमेत्तेण ।। (५५)
[का० प्र० – ४००]

अत्र कव्वपदेन सह समस्तं समपदम् । अन्यत् सर्वं पूर्ववदेव बोध्यम् ।

वाक्यगा उपमानलुप्ता आर्थी उपमा का उदाहरण –

सभी इन्द्रियों (करण) की परम विश्रान्ति तथा सौख्य (श्री) वितरण करने वाले सरस काव्य के समान अंशमात्र में भी अन्य कुछ वस्तु नहीं दिखाई पड़ती है और न सुनाई ही पड़ती है ।

यहाँ सरस काव्य उपमेय, 'सकल' इत्यादि साधारण धर्म, सदृश उपमाविशिष्ट बोधक पद है । उपमानबोधक के अभाव में लुप्तोपमा हुई ।

समासगा उपमानलुप्ता आर्थी उपमा का उदाहरण—

(पूर्वोक्त पद्यार्थ ही इसका भी अर्थ है ।) उस पद्य में ही कव्व पद के साथ समपद को समस्त करके 'सरिस' के स्थान में णूणं देने से इसका उदाहरण होता है ।

[वाचकलुप्तोपमा] –

उपमाबोधकेवादि-लोपेऽप्यार्थी-भिदाः[3] कति ।
जायन्ते याश्च ताः सर्वाः निरूप्यन्ते विशेषतः ।।६२।।

---

2 – समासगा यथा । 3 – भिधाः ।

एका समासे चान्ये द्वे कर्माधार-क्यचोस्तथा ।
अपरा क्यङि कर्त्तुश्च कर्मकर्त्रोर्णमुलभवे ॥६३॥
एवं हि [4]षड्विधा प्रोक्तेवादिलोपस्थलोपमा ।
प्रत्येकमेव वक्ष्यन्ते तदुदाहरणानि च ॥०४॥

(१) वाचकलुप्ता [5]समासगा यथा—

ततः कुमुदनाथेन कामिनीगण्डपाण्डुना ।
नेत्रानन्देन चन्द्रेण माहेन्द्री दिगलङ्कृता ॥ (५६)
[का० प्र० – ४०१]

अत्र गण्ड इव पाण्डुरिति समासस्थेवादिलोपः ।

वाचकलुप्तोपमा –

उपमा के बोधक (वाचक शब्द) इव, यथा आदि के लोप होने पर भी केवल आर्थी उपमा ही होती है, श्रौती नहीं। उसके कितने ही भेद होते हैं, वे सब विशेष करके निरूपित किये जा रहे हैं ॥६२॥

पहली समासगा, दूसरी कर्मक्यज्गा, तीसरी आधारक्यज्गा, चौथी कर्त्तृक्यङ्गा, पाँचवीं कर्मणमुल्गा और छठी कर्त्तृणमुल्गा — इस प्रकार वाचक लुप्ता आर्थी उपमा छः प्रकार की कही गयी है। इवादिलोपस्थल की इन उपमाओं में प्रत्येक को सोदाहरण स्पष्ट किया जा रहा है।

(१) वाचकलुप्ता आर्थी समासगा का उदाहरण—

तब कामिनी के गण्डस्थल के समान पाण्डुवर्ण, नेत्रों के आनन्द देनेवाले कुमुदनायक चन्द्र ने पूरब दिशा को अलङ्कृत किया।

यहाँ 'गण्ड इव पाण्डुः' इस विग्रह में "उपमानानि सामान्यवचनैः" (पा० २।१।५५) इस सूत्र से समास होने पर समास के द्वारा ही इवार्थ के बोध होने से इव का प्रयोग नहीं हुआ। वाचकशब्द के न रहने से सादृश्य की प्रतीति होने से आर्थी हुई।

4 – एवं षड्विधा। 5 – समासगा यथा।

(२) कर्मक्यचि यथा—

(३) आधारक्यचि वा यथा—

(४) कर्तृक्यङि वा यथा—

पौरं सुतीयति जनं, समरान्तरेऽसा-
वन्तःपुरीयति विचित्रचरित्रचञ्चुः ।
नारीयते समरसीम्नि कृपाणपाणे-
रालोक्य यस्य चरितानि सपत्नसेना ॥ (५७)

[का० प्र० – ४०३]

चरित्रचञ्चुरित्यस्य चरित्रेण चञ्चुः ख्यात इत्यर्थः । उपमानादाचारे कर्मणि क्यच्, सुतमिव आचरतीत्यर्थः । तेन पुत्र-कर्मक-पालनसदृशपालन-कर्मतया पौरस्यान्वयः । पौरकर्मकं यत् पुत्रकर्मकपालनसदृशपालनं तत्कर्त्ताऽसौ राजा इति वाक्यार्थः ।

अन्तःपुरीयतीत्यस्य पुराधिकरणक-संचारसजातीय-समराधि-करणक-संचारकर्त्ता राजेत्यर्थः । 'नारीयते' इति कर्तृक्यङ्, नारीकर्तृकाचारसजातीयाचारकर्त्री रिपुसेनेत्यर्थः ।

अत्र सादृश्यवाचकस्येवादे र्लोपात् लुप्ता, सदृशशब्देन सादृश्यस्य प्रतिपादनादार्थी ।

(२, ३, ४) वाचकलुप्ता आर्थी उपमा के (१) कर्मक्यज्गा, (२) आधार-क्यज्गा और (३) कर्तृक्यङ्गा के उदाहरण—

वह चरित्र से ख्यात राजा अपने अपने पुरवासियों से पुत्र के समान व्यवहार करता है, अद्भुत चरित्रशाली वह युद्धभूमि में अन्तःपुरके समान (स्वच्छन्दता का) व्यवहार करता है और उस तलवारधारी के चरित को देखकर शत्रु के सैनिक युद्धभूमि में नारी के समान हो जाते हैं ।

यहाँ 'सुतीयति' में सुतमिव आचरति इस विग्रह में "उपमानादाचारे" [पा० ३।१।१०] सूत्र से द्वितीयान्त कर्म 'सुतं' से क्यच्प्रत्यय हुआ है। जिसका अर्थ आचार है, समुदाय से इवार्थ प्रतीत होता है। यह कर्मक्यज्गा का उदाहरण हुआ।

आधारक्यज्गा का उदाहरण है अन्तःपुरीयति, जिसका विग्रह है अन्तःपुरे इव आचरति, यहाँ "अधिकरणाच्चेति वक्तव्यम्" इस वार्त्तिक से अधिकरण 'अन्त.पुरे' पद से क्यच् प्रत्यय हुआ।

कर्तृक्यङ्गा का उदाहरण है— नारीयते, जिसका विग्रह है नारी इव आचरति। यहाँ 'कर्त्तुःक्यङ् सलोपश्च" [पा० ३।१।११] सूत्र से क्यङ् प्रत्यय हुआ है। इवादि के लोप से लुप्तोपमा है। सदृशशब्द से सादृश्य के प्रतिपादन से आर्थी है।

(५, ६) णमुल्भेदे द्वयं यथा —

मृधे निदाघ-घर्मांशुदर्शं पश्यन्ति तं परे।
स पुनः पार्थसंचारं संचरत्यवनीपतिः॥ (५८)

[का० प्र० – ४०४]

अत्र निदाघघर्मांशु-कर्मक-दर्शमित्यत्र कर्मणि णमुल्, तेन निदाघघर्मांशुकर्मकदर्शनसदृशदर्शनकर्म, तत्कर्मकदर्शनकर्त्तारः परे इत्यर्थः।

पार्थसंचार इत्यत्र कर्त्तरि णमुल्, पार्थकर्त्तृक-संचारसदृश-सञ्चारकर्त्ता इत्यर्थः। अत्र पूर्ववदार्थीत्वं, लुप्तात्वं चानुसन्धेयम्।

वाचकलुप्ता आर्थी उपमा के णमुल्गा के दोनों भेदों कर्मणमुल्गा और कर्त्तृणमुल्गा का उदाहरण—

शत्रुगण (परे) उस राजा को युद्धभूमि में (मृधे) ग्रीष्मकालीन सूर्य (घर्मांशु) के समान देखते हैं, किन्तु वह राजा तो युद्ध में अर्जुन के समान (पार्थसंचारं) विचरण करता है।

यहाँ 'घर्मांशु' इस कर्म उपपद रहने पर दृक्षधातु से "उपमाने कर्मणि च" [पा० ३।४।४५] सूत्र से णमुल् हुआ है। 'निदाघघर्मांशो र्दशनमिव दर्शनं' ऐसा अर्थ होता है।

'पार्थसंचारं' में कर्त्ता में णमुल् हुआ है। 'पार्थ इव संचरति' ऐसा अर्थ होता है। यहाँ भी इवार्थ के अर्थतः भान होने से आर्थी, एवं इव के लुप्त रहने से वाचकलुप्ता उपमा है।

[धर्मवाचकोभयलुप्ता]—

साधारणस्य धर्मस्य सादृश्यस्य च वाचिनोः ।
शब्दयो र्लोपकरणे लुप्ता स्यात् क्विब्गता यथा ।।९५।।

(१) [धर्मवाचकलुप्ता क्विब्गता आर्थी]—

सविता विधवति, विधुरपि सवितरति, दिनन्ति यामिन्यः ।
यामियन्ति दिनान्यपि, सुखदुःखवशीकृते मनसि ।। (५९)
[का० प्र० – ४०५]

अत्राचारक्विप् कर्त्तरि, तेन विधवतीत्यत्र विधुरिवाचरतीत्यर्थः। विधुकर्तृकाचारसदृशाचारकर्त्ता सवितेत्यर्थः। अत्र सादृश्यवाचकेवादि साधारणवाचकपदयोर्लोपात लुप्ता। सदृशपदार्थस्यान्वयादार्थी।

साधारण धर्म एवं सादृश्य के वाचक दोनों शब्दों के लोप कर देने में धर्मवाचकोभयलुप्ता उपमा होती है, जिसमें क्विब्गता (क्विप् प्रत्ययान्त गता) पहले प्रस्तुत की जा रही है ।।९५।।

(१) धर्मवाचकोभयलुप्ता क्विब्गता आर्थी का उदाहरण—

जिसके मन में सुख और दुःख वशीकृत हैं, उसके लिये सूर्य चन्द्रमा के समान, चन्द्रमा सूर्य के समान, रात दिन के समान और दिन रात के समान हो जाते हैं।

यहाँ कर्त्ता में आचारार्थक क्विप् हुआ है। तदनुसार 'विधवति' का

'विधु के समान आचार करता है' ऐसा अर्थ होता है। यहाँ सादृश्यवाचक इवादि का क्विबन्त से ही लाभ होने से लोप है। साधारण धर्म कथित नहीं है, अतः लुप्ता है। सदृशपदार्थ के अन्वय से सादृश्य अर्थतः प्रतीत होते हैं। अतः आर्थी हुई।

साधारणस्य धर्मस्य सादृश्यस्य च वाचिनोः ।
पदयो र्लोपकरणे स्यादन्यापि समासगा ॥६६॥

(२) [धर्मवाचकलुप्ता समासगा] यथा—

परिपन्थिमनोराज्यशतैरपि दुरासदः[1] ।
सम्पराय-प्रवृत्तोऽसौ राजते राजकुञ्जरः ॥ (६०)

[का० प्र० – ४०६]

अत्र कुञ्जर इव राजा राजकुञ्जरः । अत्र साधारणवाचि-सादृश्यवाचकेवाद्यो र्लोपः ।

साधारणधर्म और सादृश्य के वाचक पदों के लोप करने से इसके द्वितीय भेद समासगा भी होती है ॥६६॥

(२) धर्मवाचकोभयलुप्ता आर्थी समासगा का उदाहरण -

शत्रुओं के सैकड़ों मनोरथ रूपी राज्यों से दुष्प्राप्य जो यह संग्राम में प्रवृत्त (संपरायप्रवृत्त) मत्ताहाथी के तुल्य पराक्रमवाला राजा (राजाऽयं कुञ्जर इव =राजकुञ्जरः), वह शोभित हो रहा है।

यहाँ 'राजकुञ्जरः' में "उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे" सूत्र से साधारण धर्म के अप्रयोग में समास होने पर सादृश्यवाचक इव का भी लोप हो गया है।

[धर्मोपमानोभयलुप्ता]—

धर्मोपमानपदयो र्लोपे लुप्ता द्विधा मता ।
समासगा वाक्यगा च भवेदन्या भिदा नहि ॥६७॥

1 – दुराक्रमः — का० प्र० ।

(१) समासगा यथा—

ढुण्ढुण्णन्तो[2] मरिहिसि, कण्टअ-कलिआइँ केअइ-वणाइँ ।
मालइ-कुसुम-सरिच्छं, भमर ! भमन्तो ण पाविहिसि ॥(६१)

[का० प्र० – ४०७]

[ढुण्ढुनायमानो मरिष्यसे, कण्टककलितानि केतकीवनानि ।
मालतीकुसुमसदृक्षं, भ्रमर ! भ्रमन् न प्राप्स्यसि ॥]

मालतीकुसुमं सदृशं यस्येति बहुव्रीहिः । तत्र मालतीकुसुमस्योपमेयता, उपमानवाचकस्य च लोपात् लुप्ता ।

(२) अत्रैव वाक्यगा, कुसुमसदृशमित्यत्र कुसुमेन सदृशमिति पाठे ।

धर्मोपमानवाचक लुप्ता –

साधारण धर्म उपमान पद के लोप में लुप्ता उपमा दो प्रकार की है— (१) समासगा आर्थी और (२) वाक्यगा आर्थी । इसके अन्य भेद नहीं होते हैं ॥६७॥

(१) इसमें समासगा के उदाहरण –

हे भ्रमर ! काँटों से भरे केतकी वन में घूमते हुए तुम भले मर जाओ, पर मालती सदृश फूल को नहीं पा सकोगे ।

यहाँ 'मालती कुसुम है समान जिसका' ऐसा बहुव्रीहि समास हुआ है । उसमें मालती कुसुम की उपमेयता है । उपमान और साधारण धर्म वाचक के लोप होने से लुप्ता है ।

(२) इसी उदाहरण में वाक्यगा का उदाहरण भी हो सकता है, पर "कुसुमसदृशं" के स्थान में 'कुसुमेन सदृशं' पाठ करना होगा ।

[त्रिलुप्ता=धर्मोपमानवाचकलुप्ता]–

उपमेयोपमा-धर्मवाचिशब्दत्रिकस्य च ।
लोपे चैकस्य सद्भावे भवेल्लुप्ता समासगा ॥६८॥

2 – ढुण्ढुणन्त ।

यथा– तरुणिमनि कृतावलोकना-
ललितविलासविलब्ध - विग्रहा[3] ।
स्मरशरविसराचितान्तरा
मृगनयना हरते मुने मंनः ।। (६२)
[का० प्र० – ४०१]

तरुणिमनि यौवने कृतावलोका दत्तादृष्टिः, ललिताय सर्वजनमनोहराय, विलासाय विभ्रमाय, विलब्धः दत्तो विग्रहः शरीरं यया सा । विसरः समूहः ।

अत्र मृगस्य नयने इव चञ्चले नयने यस्याः सा मृगनयना इतिविग्रहे उपमेयवाचिनयन - पदस्य, साधारणधर्मवाचि-चञ्चल-पदस्य, सादृश्यवाचीवपदस्य च लोपाल्लुप्ता ।

उपमेय, वाचक और साधारणधर्म इन तीनों के वाचक पदों के लोप होने पर केवल एक ही (उपमान) के रहने से त्रिलुप्ता उपमा एक ही प्रकार की 'समासगा' होती है ।।६८।।

(१) उपमेय, वाचक, धर्मलुप्ता समासगा उपमा का उदाहरण –

अपने यौवन का अनुभव करनेवाली, ललित हावभावों से अपने देह को समर्पित करनेवाली, कामबाणों से विद्ध हृदयवाली मृगनयना बाला मुनि के भी मन को हर लेती है ।

यहाँ 'मृग के नयन के समान चञ्चल नयन है जिसका' इस विग्रह में "सप्तम्युपमानपूर्वपदस्य बहुव्रीहिरुत्तरपदलोपश्च" इस वार्तिक से उपमेयवाचक नयन पद का, साधारणधर्मवाचक चञ्चल पद का और सादृश्यवाची इव पद का लोप होने से त्रिलुप्ता उपमा हुई ।

[मालोपमा]—

एकस्यैवोपमेयस्य बहूनि च यदा पुमः ।
उपमानानि तिष्ठन्ति तदा मालोपमा स्मृता ।।६९।।

3 – वितीर्णविग्रहा – का० प्र० ।

सर्वेष्वेवोपमानेषु धर्मः साधारणो यदा ।
एक एव भवेद् यत्र तत्र मालोपमादिमा ॥१००॥

(१) यथा—

अनयेनेव [4]राज्यश्री दैन्येनेव मनस्विता ।
[5]मम्लौ सा च विषादेन नलिनीव[6] हिमाम्भसा ॥ (६३)
[का० प्र० – ४१०]

अत्र साधारणो धर्मः सर्वत्र म्लानिरेव । उपमेया नायिका, उपमानानि नयरहितराज - दैन्य - विशिष्टमनस्विता - हिमाम्भोविशिष्टपद्मिन्यः ।

एक ही उपमेय के यदि बहुत उपमान दिखाये जायें तो वहाँ मालोपमा होती है ॥९९॥

उन सभी उपमानों में यदि साधारणधर्म एक ही हो तो वहाँ पहली मालोपमा होती है ।

(१) अभिन्नसाधारणधर्मवती मालोपमा—

जिस प्रकार अनीति के कारण राज्यश्री, दीनता के कारण मनस्विता और हिमजलवृष्टि के कारण नलिनी (कमलिनी) मुरझा जाती है उसी प्रकार विरह दुःख के कारण वह (नायिका) मुरझा गयी है ।

यहाँ साधारणधर्म सभी उपमानों में म्लानि (मुरझाना) ही है । उपमेया नायिका और उपमान नीति से हीन राजा, दीनता से युक्त मनोंवाली और हिमजलवृष्टि से युक्त कमलिनी हैं ।

सर्वेष्वेवोपमानेषु धर्माः साधारणा यदा ।
भवन्ति बहवस्तत्र भवेन्मालोपमाऽपरा ॥१०१॥

---

4 – राजश्री । 5 – मम्ले साथ । 6 – पद्मिनीव ।

(२) यथा– ज्योत्स्नेव नयनानन्दः सुरेव मदकारणम् ।
　　　　प्रभुतेव समाकृष्टसर्वलोका नितम्बिनी ।। (६४)
　　　　　　　　　　[का० प्र० – ४११]

अत्र ज्योत्स्ना, सुरा, प्रभुता चोपमानानि । नयनानन्दजनकत्वं, मदकारणत्वं, वशीकृतसर्वलोकत्वञ्च साधारणधर्माः ।

सभी उपमानों में यदि साधारण धर्म बहुत हों तो दूसरी मालोपमा होती है ।

(२) भिन्नसाधारणधर्मा उपमा का उदाहरण –

यह नितम्बिनी (युवती) चन्द्र किरण की तरह आँखों को आन्दित करनेवाली, मदिरा की तरह उन्मत्त करनेवाली और प्रभुता की तरह सबों को वश में रखनेवाली है ।

यहाँ ज्योत्स्ना, सुरा, प्रभुता ये उपमान हैं । नयनों को आन्दित करना, मद का कारण होना और सर्वलोक को वशीकृत करना ये साधारण धर्म हैं ।

[रसनोपमा]

पूर्वपूर्वयोपमेयानां यदा स्यादुत्तरोत्तरम् ।
उपमानत्वं तदा तत्र बोद्धव्या रसनोपमा ।।१०२।।
साधर्म्यभिद-भेदाभ्यां स्यादियं रसनोपमा ।
द्विविधा, द्विविधं तस्या उदाहरणमुच्यते ।।१०३।।

(१) साधर्म्यभिदे यथा –

अनवरत - कनक - वितरण-
　　　　जललवभृतकरतरङ्गितार्थिततेः ।
भणितिरिव मतिर्मतिरिव चेष्टा
　　　　चेष्टेव कीर्त्तिरतिविमला ।। (६५)
　　　　　　　　　　[का० प्र० – ४१२]

अत्र विमलत्वं साधारणो धर्मः ।

(२) साधर्म्यभेदे यथा—

मतिरिव मूर्त्ति मंधुरा
मूर्त्तिरिव सभा प्रभावर्जिता ।
तस्य सभेव जयश्रीः
शक्या जेतु ं नृपस्य न परेषाम् ॥ (६६)
[का० प्र० – ४१३]

अत्र प्रथमयो मंधुरत्वं, मूर्त्तिसभयोः प्रभावजितत्वं, तृतीययोः स्वायत्तत्वं साधारणा धर्माः ।

वैचित्र्यमुपमाया हि भवेदपि सहस्रधा ।
विस्तारभयतो नात्र तत्सर्वं प्रतिपादितम् ॥१०४॥

जब पूर्व-पूर्व उपमेय उत्तर-उत्तर उपमान होता रहे तो वहाँ रसनोपमा जाननी चाहिए ॥१०२॥

साधर्म्य के अभेद और भेद की दृष्टि से रसनोपमा दो प्रकार की है। उसके उदाहरण क्रमशः दिखाये जा रहे हैं ॥१०३॥

(१) साधर्म्य के अभेद में रसनोपमा का उदाहरण —

सतत स्वर्णदान के लिए कर स्थित संकल्पार्थ जलविन्दु से याचकों को तरंगित (उच्छ्वसित) करनेवाले (प्रशस्त दाता) इस महाराज की बुद्धि इनके वचन के समान, चेष्टा बुद्धि के समान और यश चेष्टा के समान निर्मल हैं।

यहाँ एक ही विमलत्व साधारण धर्म है।

(२) साधर्म्य के भेद में रसनोपमा का उदाहरण –

उस राजा की ही बुद्धि के समान मूर्त्ति (स्वरूप) मधुर है, मूर्त्ति के समान सभा प्रभावशालिनी है और सभा के समान विजयश्री शत्रुओं से अजेय है।

यहाँ प्रथम दोनों (बुद्धि-मूर्त्ति) में मधुरत्व, मूर्त्ति और सभा में प्रभावजितत्व और तृतीय उपमानोपमेय (सभा-विजयश्री) में स्वायत्तत्व साधारण धर्म है।

इस प्रकार उपमा की विचित्रता (विविधता) हजारों की हो सकती है। अतः यहाँ उनका विवेचन विस्तार के भय से नहीं किया गया ॥१०४॥

ज्ञातव्य है कि मालोपमा और रसनोपमा भी उपमा के पूर्वोक्त २५ भेदों में ही गतार्थ है ॥

२ – अनन्वयः

एकं पदं बोधकं स्यादुपमानोपमेययोः ।
एकवाक्यगतं यत्र तत्रानन्वय उच्यते ॥१०५॥

यथा— न केवलं भाति नितान्तकान्ति-
नितम्बिनी सैव नितम्बिनीव ।
यावद् विलासायुधलासवासा[1]-
स्ते तद्विलासा इव तद्विलासाः ॥ (६७)

[का० प्र० – ४१४]

न केवलं नितम्बिनी सैव नितम्बिनी भवति, यावन्तो विलासाम्नुलेपादयः त एव आयुधानि यस्य कामस्य तस्य लासावासाः लासगृहाणि ।

अनन्वय अलंकार

एक वाक्य में स्थित एक ही पद जहाँ उपमान और उपमेय दोनों के बोधक हो तो वहाँ अनन्वय अलंकार होता है ॥१०५॥

उपमेय का किसी अन्य उपमान के साथ अन्वय (सम्बन्ध) न रखने को ही अनन्वय कहते हैं। जैसे— अत्यन्त सुन्दरी यह नितम्बिनी इसी नित-

1 – लास्यवासा — का० प्र० ।

म्बिनी की तरह सुन्दरी ही नहीं, अपि तु कामदेव के विलास गृह स्वरूप इसके विलास (हावभाव) भी इसी के हावभाव की तरह है।

यहाँ अपन से अपनी तुल्यता के द्वारा अतुलनीयता की प्रतीति कराना ही लक्ष्य है।

3 – अथ उपमेयोपमा

प्रकृतस्योपमानत्वमुपमानोपमेयता ।
यदा मिथो भवेदेवमुपमेयोपमा तदा ॥१०६॥

यथा— कमलेव मति र्मतिरिव कमला
तनुरिव विभा विभेव तनुः ।
धरणीव धृति र्धृतिरिव धरणी
सततं विभाति वत ! यस्य ॥ (६८)

[का० प्र० – ४१५]

अत्र कमलाया उपमानत्वे सर्वजनोपास्यत्व साधर्म्यं, मत्या उपमानत्वे स्थिरत्वं साधर्म्यं, तनोरुपमानत्वे उपचितत्वं साधर्म्यं, विभाया उपमानत्वे मनोहारकत्वं साधर्म्यं, धरित्र्या उपमानत्वेऽनन्यगामित्वं साधर्म्यं, धृतेरुपमानत्वे सम्पत्तिहेतुत्वं साधर्म्यम्। वत विस्मये।

उपमेयोपमा

प्रकृत (वर्णनीय) का उपमान हो जाना और उपमान का उपमेय हो जाना, इस प्रकार जहाँ उपमानोपमेय में परस्पर विनिमय हो वहाँ उपमेयोपमा अलङ्कार होता है ॥१०६॥

जैसे— इस महाराज की लक्ष्मी के सदृश बुद्धि और बुद्धि के समान लक्ष्मी, शरीर के समान कान्ति और कान्ति के समान शरीर, पृथ्वी के समान धैर्य और धैर्य के समान पृथ्वी, ये सब सतत शोभित हो रहे हैं।

यहाँ कमला के उपमान होने में 'सर्वजन के उपास्य होना' साधारण धर्म है। मति के उपमानत्व में स्थिर होना साधर्म्य, ततु के उपमानत्व में वर्द्धिष्णुत्व साधर्म्य, विभा के उपमानत्व में मनोहारकत्व साधर्म्य, धरित्री के उपमानत्व में 'अन्य के अधीन न होना' साधर्म्य और धृति के उपमानत्व में सम्पत्तिहेतुत्व साधर्म्य है।

४ – अथ उत्प्रेक्षा

उपमानांश एव स्यात् कोटिरुत्कटताङ्कता ।
यत्रोपमेयसन्देह[1] उत्प्रेक्षा स प्रकीर्त्तितः ॥१०७॥
धर्मं स्वरूपञ्चादाय भेदोऽस्याः केनचित् पुनः ।
वर्णितस्तन्मतेनैव तदुदाह्रियते द्वयम् ॥१०८॥

(१) धर्मकोटिको यथा—

[2]उन्मेषं यो मम न सहते जातवैरी निशाया-
मिन्दोरिन्दीवरदलदृशा तस्य सौन्दर्यदर्पः ।
नीतः शान्तिं प्रसभमनया वक्त्रकान्त्येति हर्षा-
ल्लग्ना मन्ये ललिततनु ते पादयोः पद्मलक्ष्मीः ॥ (६९)
[का० प्र० – ४१६]

यश्चन्द्रो मम उन्मेषं प्रकाशं निशायां रविबन्धुरहितसमये न सहते, तस्य चन्द्रस्य कुवलयदृशा सौदर्यदर्पः शान्तिं नीतः इतिहेतोस्ते पादयो र्लग्ना, मन्ये पद्मलक्ष्मीः। अत्र पादयोः स्वाभाविकरक्तत्वे पद्मारुण्यलग्नत्व-तादात्म्याध्यासः।

जहाँ उपमेय (वर्णनीय) के सन्देह में उपमान के अंश में ही अत्यन्त झुकाव (उपमेय की संभावना) हो तो उसे उत्प्रेक्षा कहते हैं ॥१०७॥

कोई आचार्य धर्म और स्वरूप को लेकर इसके दो भेद का वर्णन करते

हैं। यहाँ उनके अनुसार ही दोनों के उदाहरण प्रस्तुत किये जा रहे हैं ॥६०८॥

(१) धर्म पक्ष की उत्प्रेक्षा (हेतूत्प्रेक्षा) यथा—

अरी सुन्दर देहवाली ! मैं समझता हूँ कि कमल की शोभा इस हर्ष से तेरे चरणों पर आ गई है कि इस कमलनयनी ने अपने मुँह की शोभा से उस चन्द्र के सौन्दर्य के अहङ्कार को हठात् शान्त कर दिया है जो (चन्द्र) तेरा (कमल शोभा का) स्वाभाविक वैरी है और रात में मेरे उन्मेष (खिलना) का सहन नहीं कर रहा है।

यहाँ वैर के स्वाभाविक लाल रहने पर भी उसमें कमल की लाली आ जाने की संभावना कर तादात्म्य (एकरूपता) दिखाया गया है।

(२) स्वरूपकोटिको यथा –

लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्षतीवाञ्जनं नभः।
असत्पुरुषसेवेव दृष्टि विफलतां गता ॥ (७०)

[का० प्र० – ४१७]

अत्र ज्ञायमानं तमोव्यापनादिकं लेपनादिस्वरूपेण सम्भावितम्। यथा च ज्ञायमाने तमोऽङ्गव्यापने द्रव्यान्तरतिरोधायकत्वेन तमोऽङ्गलेपनस्य संभावना, तस्यामुत्कटकोटित्वमुपमानीभूततमोऽङ्गलेपनांश एव। संज्ञायमाने तमस्सम्पाते नीलरूपदर्शकत्वेनाञ्जनवर्षणस्य सम्भावना तस्यामुत्कटमुपमानाञ्जनांश एव। नभः कर्तृवाचकम्।

(२) स्वरूप पक्ष के उपमा का उदाहरण –

यह अन्धकार जैसे अङ्गों को लीप रहा है, आकाश जैसे काजल बरस रहा है और आँखों की ज्योति दुर्जन पुरुष को सेवा के समान निष्फल हो रही है।

यहाँ प्रस्तुत अन्धकार के फैलने को लेपन के रूप में सम्भावित किया गया है। जैसे प्रस्तुत अन्धकार के द्वारा अङ्गव्यपन में अन्य द्रव्य के छिपे

रहने से अन्धकार के द्वारा ही अङ्गों को लीपने की सम्भावना की गयी है। उसमें उत्कट कोटि (अतिशय झुकाव) तो उपमान स्वरूप अन्धकार से अंग-लेपन के अंश में ही मालूम पड़ने लगा है। ज्ञायमान अन्धकार के पतन में नीलरूप दर्शन से उसमें अंजनवर्षण की सम्भावना की गयी है जिसमें उत्कटता उपमानांश अञ्जन में ही है।

ध्रुवं-नूनमिव-प्रायो-मन्ये-शङ्के-पदादयः ।
उत्प्रेक्षावाचका ज्ञेयाः संक्षेपादत्र कीर्त्तिताः ॥१०९॥

ध्रुवं, नूनं, इव, प्रायः, मन्ये और शङ्के इत्यादि पद उत्प्रेक्षा के वाचक हैं जो संक्षिप्ततया यहाँ कहे गये हैं ॥१०९॥

५ - सन्देहालङ्कारः

भेदोक्तिसहिता चैकाऽभेदोक्तिसहिता परा ।
एवं द्वैविध्यमापन्ना सन्देहालङ्कृतिः स्मृता ॥११०॥
एको निश्चयगर्भः स्यान्निश्चयान्तोऽपरस्तु यः ।
भेदोक्तिसहितस्त्वेवं द्विविधः परिकीर्त्तितः ॥१११॥
[सन्देहालङ्कृतिश्चासौ] तदन्यस्त्वेक एव हि ॥

(१) निश्चयगर्भ-सन्देहो यथा—

अयं मार्त्तण्डः किं, स खलु तुरगैः सप्तभिरितः
कृशानुः किं, सर्वाः प्रसरति दिशो नैष नियतम् ।
कृतान्तः किं, साक्षान्महिषवहनोऽसाविति चिरं
समालोक्याजौ त्वां विदधति विकल्पान् प्रतिभटाः ॥(७१

[का० प्र० – ४१८]

अत्र मार्त्तण्डत्वादिसन्देहे सप्ततुरगत्वादि-विरुद्धधर्मोक्तौ निश्चयगर्भता।

सन्देहालंकार

उपमान और उपमेय में भेदकथन से युक्त पहला और उनमें अभेदकथन से युक्त दूसरा, इस प्रकार दो भेदों वाला सन्देह अलंकार होता है ॥११०॥

भेदोक्तिसहित सन्देहालंकार दो प्रकार का होता है— (१) निश्चयगर्भ सन्देह और (२) निश्चयान्त सन्देह। इससे भिन्न सन्देहालंकार अभेदोक्ति-सहित एक प्रकार का ही है ॥१११॥

(१) निश्चयगर्भ सन्देह का उदाहरण—

क्या यह (राजा) सूर्य है ? किन्तु वह (सूर्य) तो सात घोड़ों से चलता है (यह एक ही घोड़ा से जाता है), तो क्या यह अग्नि है ? पर वह (अग्नि) तो निश्चय रूप से सभी दिशाओं में फैलता है (यह तो आगे ही चलता है), तो क्या यह यमराज है ? पर वह (यमराज) तो साक्षात् महिष पर चलता है। इस तरह हे राजन् ! आपको युद्धभूमि में देखकर शत्रुयोद्धा (प्रतिभट) बहुत देर तक संशय में पड़े रह जाते हैं।

यहाँ सूर्यादि के सन्देह में सप्ततुरगत्वादि विरुद्ध धर्म कह देने से निश्चय गर्भता प्रतीत हो रही है कि सूर्यादि का सन्देह ही था, पर निश्चय रूप से यह सूर्य नहीं है।

(२) निश्चयान्तो यथा—

इन्दुः किं, क्व कलङ्कः, सरसिजमेतत् किमम्बु क्व गतम् ।
ललित-सविलास-वचनैर्मुखमिति हरिणाक्षि ! निश्चितं परतः ॥ (७२)

[का० प्र० – ४१९]

(३) अन्यो यथा—

अस्याः सर्गविधौ प्रजापतिभूच्चन्द्रो नु कान्तिप्रदः
शृङ्गारैकरसः स्वयं नु मदनो, मासो नु पुष्पाकरः ।

वेदाभ्यासजड़ः कथन्नु विषयव्यावृत्तकौतूहलो
निर्मातुं प्रभवेन्मनोहरमिदं रूपं पुराणो मुनिः ॥ (७३)
[का० प्र० – ४२०]

अत्र श्रूयमाणस्य प्रजापत्यादे र्न कस्यापि वैधर्म्यमुक्तम् ।

(२) निश्चयान्त सन्देहालंकार का उदाहरण—

क्या यहाँ (मुख) चन्द्रमा है ? तो फिर कलंक कहाँ ? तो क्या यह (मुख) कमल है ? तो फिर पानी कहाँ गया ? इसके बाद हे हरिणाक्षि ! सुन्दर वचन के विलास से निश्चय किया कि यह तो तेरा मुख है ।

यहाँ पहले सन्देह हुआ, पर अन्त में वस्तु का निश्चय हो गया। अतः यह निश्चयान्त है ।

(३) अभेदोक्तिसहित सन्देह का उदाहरण—

इस नायिका की सृष्टि करने में प्रजापति के रूप में क्या कान्तिमान् चन्द्रमा ने कार्य किया था अथवा शृंगार रसमय स्वयं कामदेव ही प्रजापति बना था या वसन्त ऋतु ही विधाता बना था ? क्योंकि वेदाभ्यास से कुण्ठित बुद्धिवाला, सुन्दर विषयों की उत्सुकता से निवृत्त पुरातन मुनि ब्रह्मा इस सुन्दर रूप के बनाने में कैसे सफल हो सकते हैं ?

यहाँ श्रूयमाण 'प्रजापति' शब्द के अर्थ से किसी का वैधर्म्य नहीं कहा गया है ।

६ - अथ रूपकम्

साम्यातिशयतो यः स्यादुपमानोपमेययोः ।
भेदधी-कालिकाभेदारोपो रूपकमुच्यते ॥११२॥
रूपकं प्रथमं साङ्गं द्वितीयं च निरङ्गकम् ।
परम्परितरूपं च तृतीयं समुदाहृतम् ॥११३॥

साधारणस्य धर्मस्य बोधकेन समन्वितम् ।
यत्तत् साङ्गमिति प्रोक्तं निरङ्गं तद्विना कृतम् ॥११४॥
समस्तवस्तुविषयमेकदेशविवर्ति च ।
रूपकं द्विविधं प्रोक्तं यत् साङ्गं समुदाहृतम् ॥११५॥
आरोप्यमाणधर्मा वा धर्मी शब्दान्निगद्यते ।
समस्तवस्तुविषय तदा रूपकमुच्यते ॥११६॥

(१) यथा—

ज्योत्स्नाभस्मच्छुरणधवला बिभ्रती तारकास्थी-
न्यन्तर्द्धानव्यसनरसिका रात्रि-कापालिकीयम् ।
द्वीपाद् द्वीपं भ्रमति दधती चन्द्रमुद्रा कपाले
न्यस्तं सिद्धाञ्जनपरिमलं लाञ्छनस्य च्छलेन ॥ (७४)

[का० प्र० – ४२१]

इयं रात्रि-कपालिकी अन्तर्धानव्यसनरसिका सती द्वीपात् द्वीपान्तर भ्रमति। रात्रिरेव कपालिकी कपालव्रतधारिणी योगिनी, अन्तर्धानमदृश्यत्वं तदर्थं व्यापारः, तत्र रसिका अन्तर्धानोपपादक-सामग्रीसम्पादनपरेत्यर्थः। उपकरणमाह— चन्द्रस्वरूपे मुद्राकपाले लाञ्छनस्य छलेन सिद्धाञ्जनस्य परिमलं क्षोदं दधती। भिक्षा-पात्रं सिद्धाञ्जनं कापालिकत्वोपयुक्तं विशेषणं ज्योत्स्नेत्यादि।

अत्र भस्मच्छुरणं ज्योत्स्नाया अभिन्न[1], ज्योत्स्ना भस्मा-भिन्नेति वा। [2]ज्योत्स्नोपाधिकधारिण्यभिन्न-कापालिकधर्मवती रात्रिः। एवं तारकास्थीनि इत्यादावपि। अत्र भस्मच्छुरणादौ ज्योत्स्नाभेदारोपः। प्रकृतधर्मारोपो रात्र्यादौ कापालिक्या अभेदा-

1 – ज्योत्स्नायां अभिन्नम्। 2 – ज्योत्स्नोपाधिकधारण्याभिन्न।

रोपो धर्म्यारोपः। तेषां धर्मधर्मिणां शब्दोपात्तत्वमेव। अतः समस्तवस्तुविषयकत्वम्।

रूपक अलंकार

अतिशय सादृश्य के कारण उपमान और उपमेय में भेदबुद्धि रहने पर अभेद के आरोप को रूपक अलंकार कहते हैं ॥११२॥

रूपक के तीन भेद हैं — पहला साङ्गरूपक, दूसरा निरङ्गरूपक और तीसरा परम्परितरूपक ॥११३॥

साधारण धर्म के वाचक शब्द के रहने पर साङ्गरूपक होता है और उसके विना निरङ्ग कहलाता है ॥११४॥

सांगरूपक तीन प्रकार के होते हैं – (१) समस्तवस्तुविषय और (२) एकदेशविवर्त्ति ॥११५॥

आरोप्यमाण धर्म और धर्मी जहाँ शब्द के द्वारा साक्षात् कथित हों, वहाँ समस्तवस्तुविषय नामक रूपक होता है ॥११६॥

(१) समस्तवस्तुविषय सांगरूपक का उदाहरण—

चाँदनी रूपी भस्म लेपने से उजली बनी हुई, तारागणरूपी हड्डियों को रखती हुई, अन्तर्धान (देखते ही देखते लुप्त होने) के कौतुक में लगी हुई यह रात रूपी योगियी अपने चन्द्रमा रूपी खप्पर में चन्द्रकलङ्क के बहाने सिद्धाञ्जन के चूर्ण को रखती हुई इस द्वीप से उस द्वीप में सर्वत्र विचरण करती है।

यहाँ भस्म का लेप चाँदनी से अभिन्न कथित है। इसी प्रकार ताराओं से अभिन्न अस्थि ऐसा अर्थ है जहाँ धर्मी का आरोप है। यहाँ भस्मलेपादि में ज्योत्स्नादि के अभेद का आरोप है। तद्गत जो प्रकृत (स्वाभाविक) धर्म है, उसका आरोप किया गया है। रात्रि आदि में कापालिकी आदि का जो अभेदारोप है, वह धर्म का ही आरोप है। इन धर्मों और धर्मियों का शब्दतः ही कथन हुआ है। अतः यह समस्तवस्तुविषय का उदाहरण हुआ।

केचिच्छब्दैरुपात्ता वै केचिदाक्षेपतः पुनः।
आरोप्या यत्र लभ्यन्त एकदेशविवर्त्ति तत् ॥११७॥

(२) यथा—लावण्य-मधुभिः पूर्णमास्यमस्या विकस्वरम् ।
लोकलोचन-रोलम्ब-कदम्बैः कैर्न पीयते ॥ (७५)
[सा० द० – १०, ३२]

अत्र लावण्यादौ मध्वारोपः शाब्दः, मुखादौ पद्मत्वारोप आर्थः ।

आरोप्यमाण धर्म और धर्मी में कुछ तो शब्दतः और कुछ आक्षेपतः (अर्थतः) प्राप्त होते रहें तो वहाँ एकदेशविवर्त्ति नामक रूपक होता है ॥११७।

(२) एकदेशविवर्त्ति सांगरूपक का उदाहरण—

इस सुन्दरी के सौन्दर्य रूपी मधु से भरे मुख रूपी कमल को सहृदयों के आँख रूपी कौन से भ्रमरों ने नहीं पीया ? अर्थात् सबों से पीया ॥

यहाँ सौन्दर्य में मधु का आरोप शब्दतः है और मुख में कमल का आरोप अर्थतः है ।

निरङ्गं द्विविधं ज्ञेयं मालाऽमालाप्रभेदतः ।
मालास्वरूपं वक्ष्यामि तदुदाहरणन्तथा ॥११८॥
एकत्रारोपविषयः उपमेये यदा पुनः ।
आरोप्यन्तेऽनेकधर्मा तन्मालारूपकं स्मृतम् ॥११९॥

(१) यथा—

सौन्दर्यस्य तरङ्गिणी, तरुणिमोत्कर्षस्य हर्षोद्गमः,
कान्तेः कार्मणकर्म, नर्म रहसामुल्लासनावासभूः ।
विद्या वक्रगिरां, विधेरनवधि प्रावीण्यसाक्षात् क्रिया,
बाणाः पञ्च-शिलीमुखस्य, ललनाचूड़ामणिः सा प्रिया । (७६)
[का० प्र० – ४२४]

समुचितस्थानलाभेनोत्कर्षः, वशीकरणोपायः कार्मणं कर्म, नर्मरहसांरहस्यपरीहासानां, विद्या उपदेशशास्त्रं, साक्षात्क्रिया प्रत्यक्षहेतुः । अत्रैकस्यां प्रियायां सौन्दर्य-तरङ्गिण्याद्यारोपात् मालात्व रूपकस्य । यथा वा—

निर्माणकौशलं धातुः चन्द्रिका लोलचक्षुषाम्[1] ।
क्रीड़ागृहमनङ्गस्य सेयमिन्दीवरेक्षणा ॥ (७७)
[सा० द० – १०, ३२]

निरंगरूपक के दो भेद हैं — (१) मालारूपक और (२) अमालारूपक। इनमें मालारूपक का स्वरूप एवं उदाहरण पहले प्रस्तुत किया जा रहा है ॥११८॥

आरोप के विषय एक ही उपमेय में जब अनेक धर्मों का आरोप किया हो तो उसे मालारूपक कहते हैं ॥११९॥

(१) यथा —

यह रमणियों में अग्रगण्य मेरी प्रिया सौन्दर्य की नदी है, यौवन की उन्नति का आनन्द है, कान्ति का वशीकरणमन्त्र है, एकान्त परिहास की वासभूमि है, वक्रोक्ति की विद्या है, विधाता की असीम कुशलता प्रत्यक्ष अनुभूति है और कामदेव का बाण है।

यहाँ एक ही प्रिया में सौन्दर्य-तरङ्गिणी इत्यादि अनेक धर्मों के आरोप होने से मालारूपक विराजमान है।

इसी का दूसरा उदाहरण — यह मेरी प्रिया नीलकमल रूपी आँखवाली विधाता की पटुता है, लोगों के आँखों की चान्दनी है और कामदेव का क्रीड़ा गृह है।

(२) अमालारूपकं निरङ्गं यथा—

कुरङ्गीवाङ्गानि स्तिमितयति गीतध्वनिषु यत्
सखीं कान्तोदन्तं श्रुतमपि पुनः प्रश्नयति यत् ।
अनिद्रं यच्चान्तः स्वपिति तदहो वेद्म्यभिनवां
प्रवृत्तोऽस्याः सेक्तुं हृदि मनसिजः प्रेमलतिकाम् ॥ (७८)
[का० प्र० – ४२३]

---

1 — लोकचक्षुषाम् ।

अन्तः गृहाभ्यन्तरे अनिद्रं स्वपिति स्वापेन समयमतिवाहयतीत्यर्थः। अत्र प्रेमलतिकेति शुद्धम्।

यथा वा—

दासे कृतागसि भवेदुचितः प्रभूणां
पादप्रहार इति सुन्दरि ! नात्र दूये।
उद्यत्कठोरपुलकाङ्कुरकण्टकाग्रै-
र्यद् भिद्यते मृदुपदं ननु सा व्यथा मे ॥ (७६)

[सा॰ द॰ – १०, ३२]

(२) अमाला रूपक निरङ्ग का उदाहरण –

यह जो हरिणो की तरह गीतध्वनि को सुनकर अपने अंगों को निश्चल बना रही है, प्रिय की हाल-चाल को सखी द्वारा कहे जाने पर सुनकर भी पुनः प्रश्न कर रही है और अनिद्रित रहने पर भो सोती है। इससे हाय ! मालूम पड़ता है कि इसके हृदय में कामदेव ने नवीन प्रेमलता को सींचना शुरूकर दिया है।

यहाँ 'प्रेमलतिका' शुद्ध (किसी पर आश्रित नहीं) है। प्रेम में लता का आरोप स्वतन्त्र है, इसको पुष्टि के लिए अन्यत्र कहीं दूसरे का आरोप नहीं अपेक्षित है। अतः यह अंगांगिभावशून्य (निरंग) रूपक है। इसी का दूसरा उदाहरण—

हे सुन्दरि ! यह तो उचित ही है कि अपराधी दासजन पर प्रभुओं द्वारा पादप्रहार किया जाय। इस पर मै दुःखी नहीं हूँ। किन्तु व्यथा तो मुझे इस बात की है कि आनन्द से हुए रोमांच के कठोर कण्टक के अग्रभाग से जो कोमल चरण वींधा गया, उससे तुझे बहुत कष्ट हुआ होगा।

आरोपे वर्णनीयस्य यो भवेदुपपादकः।
आरोपोऽप्रकृतस्यैष परम्परित उच्यते ॥१२०॥
मालाऽमालाप्रभेदाभ्यां परम्परितरूपकम्।

द्वयं, मालास्वरूपं च श्लेषाश्लेषकृतं द्वयम् ॥१२१॥

(१) श्लेषे मालारूपं परम्परितं यथा—

विद्वन्मानसहंस ! वैरिकमला-संकोचदीप्तद्युते !
दुर्गामार्गण-नीललोहित ! समित्स्वीकारवैश्वानर !
सत्यप्रीतिविधानदक्ष ! विजयप्राग्भावभीम ! प्रभो !
साम्राज्यं वरवीर ! वत्सरशतं वैरिञ्चमुच्चैः क्रियाः ॥ (८०)

[का० प्र० – ४२५]

हंसः पक्षिविशेषः, दीप्तद्युतिः सूर्यं, नीललोहितो हरः, दक्षः क्षिप्रकारी प्रजापतिविशेषश्च, विजयोऽर्जुनः पाण्डवः, परपराभव-क्रिया प्राग्भावः प्रागुत्पत्तिश्च, सकलराजमण्डलशासकत्वं साम्राज्यं, वैरिञ्च्यं ब्राह्म्यं, क्रियाः कुर्याः, मानसं मनः सरोविशेषश्च, दुर्गाणां प्राकाराणाम् अमार्गणं दुर्गं विनैव योद्धृत्व, समितां संग्रामाणां, सत्यां शिवायाम् ।

अत्राद्यारोपणमपरारोपे निमित्तम् । मनसि हंसस्य, कमलायाः संकोचे सूर्यस्य, दुर्गाणाममार्गणे नीललोहितस्य, समितां युद्धानां स्वीकारे वैश्वानरस्य, प्रीतिविधाने दक्षस्य, परपराभवजनने भीमसेनस्य बाधेन अप्रकृत-मानसविशेषाद्यारोपस्य तदुपायत्वम् ।

यथा वा –

पद्मोदयदिनाधीशः सदागति-समीरणः ।
भूभृदावलिदम्भोलिरेक एव भवान् भुवि ॥ (८१)

[सा० द० – १०, २९]

सतामागतिरेव सदागमनं भूभृतो राजान एव पर्वता इत्याद्यारोपो राज्ञः सूर्यत्वाद्यारोपे निमित्तम् । अत्र साधारणधर्मबोधकाभावान्निरङ्गत्वम् ।

जो वर्णनीथ (प्रकृत) आरोप के समर्थन के लिने अप्रकृत का आरोप किया जाता है वह परम्परित रूपक कहलाता है ॥१२०॥

माला और अमाला के भेद से परम्परित रूपक दो प्रकार का है। मालारूपक श्लेष और अश्लेष के भेद से दो प्रकार का है ॥१२१॥

(१) श्लेष में मालारूप परम्परित रूपक का उदाहरण—

हे परांक्रमी महाराज ! विद्वानों के मानस (मनरूपी मानस सरोवर) के राजहंस ! शत्रुओं के कमला संकोच (कमल के असंकोच=विकास या कमला =लक्ष्मी के संकोच) के लिये सूर्य ! दुर्गों के (किलाओं के) अनुसंधान के विना ही या दुर्गा के अनुसन्धान के लिये नीललोहित शिव ! समित् के (युद्धरूपी समिधा=लकड़ी के) स्वीकार के लिये अग्नि ! सत्य की प्रीति (या सती =गौरी के अप्रीति) के विधान के दक्ष-प्रजापति ! और विजय होने से (विजय =अर्जुन के जन्म से) पूर्व के भीमसेन ! आप अपने साम्राज्न का अनन्त काल तक शासन करते रहें।

यहाँ आद्य आरोप अपर आरोप में निमित्त है। मन में हंस का, कमला के संकोच में सूर्य का, दुर्गों के अमार्गण में नीललोहित का, युद्धों के स्वीकार में वैश्वानर का, सत्यप्रीति-विधान में दक्ष का और शत्रु के पराजय में भीमसेन के वाधित होने से अप्रकृत मानस सरोवर आदि के आरोपों के द्वारा सभी की संगति बैठ जाती है।

दूसरा उदाहरण—

हे महाराज ! आप संसार में अकेले ही पद्मारूपो पद्म=कमल के उदय के लिए सूर्य हैं, सज्जनों की आगति रूष सदा गति के लिए वायु हैं, राजाओं की श्रेणी रूपी पर्वत श्रेणियों के लिए इन्द्र हैं।

यहाँ राजा में सूर्यत्वादि के आरोपों में पद्मा मे पद्मत्व, सज्जनगति में सदागतित्व और राजाओं मे पर्वतत्व का आरोप निमित्त है। साधारणधर्भ के वोधक के अभाव में यह निरंग रूपक हुआ।

मालास्वरूपभिन्नं यत् परम्परितरूपकम् ।
द्विविधं तदपि ज्ञेयं शिलष्टाशिलष्ट निबन्धनम् ।'१२२॥

(२) श्लेषेऽमालारूपं यथा[1]—

आहवे जगदुद्दण्ड - राजमण्डल - राहवे ।
श्रीनृसिंह-महीपाल ! स्वस्त्यस्तु तव बाहवे ॥ (८२)

[सा० द० – १०, २६]

अत्र राजमण्डलरूपं यन्मण्डलम्, अर्थाच्चन्द्रमण्डलमिति यावत् । यथा, राजमण्डले चन्द्रमण्डलारोपो बाहौ राहुत्वारोपे निमित्तम् । राजमण्डलं नृपसमूह एव चन्द्रविम्बमित्यारोपो राज-बाहो राहुत्वारोपे निमित्तम् ।

[३] अशिलष्टे मालारूपं परम्परितं यथा—

आलानं जयकुञ्जरस्य दृषदां सेतु विपद्वारिधेः
पूर्वाद्रिः करवालचण्डमहसो लीलोपधानं श्रियः ।
संग्रामामृतसागरप्रमथनक्रीडाविधौ मन्दरो
राजन् ! राजति वीरवैरिवनिता-वैधव्यदस्ते भुजः ॥ [८३]

[का० प्र० – ४२६]

आलानं बन्धनस्तम्भः, दृढ़त्वाद् दृषद्विधानं, करवालचण्ड-महसः खड्गसूर्यस्य, पूर्वाद्रिरुदयाचलः लीलोपधानं शिरोधारणं गेन्दुकं, संग्राम एवामृतं लोडनीयं, प्रगाढ़ं मथनं प्रमथनम् ।

अत्र जयादौ कुञ्जराद्यारोपं विना आलानसम्बन्धानुपपत्तिः। कुञ्जराद्युपमानशब्दो भिन्नः कथितः। कुञ्जराद्यारोपे सत्येव भुजस्यालानताद्यारोपो युज्यते ।

1 – यथा / यथा वा ।

यथा वा—

मनोजराजस्य सितातपत्रं
श्रीखण्डचित्रं हरिदङ्गनायाः ।
विराजते व्योमसरःसरोजं
कर्पूरपूरप्रभमिन्दुविम्बम् ।। [८४]

[सा० द० – १०, २९]

अत्र मनोजादे राजत्वाद्यारोपः, चन्द्रविम्बस्य सितातपत्रत्वाद्यारोपनिमित्तम् ।

मालारूप से भिन्न (अमाला या केवल) जो परम्परित रूपक, वह भी श्लिष्ट और अश्लिष्ट भेद से दो प्रकार का होता है ।।१२२।।

(२) श्लेष में अमालारूप परम्परित रूपक यथा -

हे नृसिंह महीपाल ! संसार में उत्कृष्ट दण्डदेनेवाले ! संग्राम में राजाओं के समूहरूपी चन्द्रमण्डल के लिए राहुस्वरूप आपके हाथ का कल्याण हो ।

यहाँ राजमण्डल में चन्द्रमण्डल का आरोप, बाहु में राहुत्वारोप का निमित्त है ।

(३) अश्लिष्ट में मालारूप परम्परित रूपक यथा—

हें राजन् ! वीर शत्रुओं की स्त्रियों के वैधव्य देनेवाले आपकी ये भुजाएँ विजयी मत्ता हाथी का बन्धन-स्तम्भ है, विपत्ति-सागर को पार करने में प्रस्तर का सेतु है, तलवार रूपी सूर्य का उदयाचल है, लक्ष्मी का लीलोपधान (आराम के लिए करवट की तकिया) है और संग्रामरूपी अमृत-सागर के मन्थन करने में मन्दर पर्वत है ।

यहाँ जयादि में कुञ्जरादि के आरोप के विना आलान-सम्बन्ध उपपन्न नहीं होता है । अतः कुञ्जरादि उपमान शब्द पृथक् कहा गया है । कुञ्जरादि आरोप से ही भुजा के आलानादि रूप से कथन संगत होता है ।

दूसरा उदाहरण—

यह कर्पूर के समान चमकीला चन्द्रमण्डल राजा कामदेव का उजला छत्र है या दिशारूपी रमणी का श्रीखण्ड चन्दन विन्यास है या आकाशरूपी तालाब का कमल है।

यहाँ जो मनोज (कामदेव) आदि में राजा आदि का आरोप है वह चन्द्रबिम्ब के सितातपत्रत्वादि के आरोप में निमित्त है।

(४) अश्लिष्टेऽमालारूपं परम्परितं यथा—

पान्तु वो जलदश्यामाः शार्ङ्गज्याघातकर्कशाः ।
त्रैलोक्य-मण्डपस्तम्भाश्चत्वारो हरिबाहवः ॥ [८५]

[सा० द० – १०, २९]

अत्र त्रैलोक्यमण्डपत्वारोपो हरिबाहूनां स्तम्भत्वारोपे निमित्तम्।

यथा वा—

निरवधि च निराश्रयञ्च यस्य
स्थितमनिवर्त्तित-कौतुकप्रपञ्चम् ।
प्रथम इह भवान् सकूर्ममूर्त्ति-
र्जयति चतुर्दश लोकवल्लिकन्दः ॥ [८६]

[का० प्र० – ४२८]

निरवधि अनवच्छिन्नं, निराश्रयं सहायान्तरानपेक्षं, अनिवर्त्तितः अनिवारितः कौतुकादीनां विवाहादीनां प्रपञ्चो नानाप्रकारता यत्र तदतिस्थितमित्यस्म विशेषणम्। पक्षान्तरे, अनिवर्त्तितः कौतुकेन प्रपञ्चः संसारो यत्र कूर्ममूर्त्तिः कमठाकृतिः, प्रथमः पुराण इति प्रथमः कूर्ममूर्त्तिरिव भवान् जयतीत्यन्वयः। कन्दो मूलम् ।

अत्र राज्ञि कूर्मत्वारोपे कन्दत्वारोपो वल्लित्वारोपश्च हेतुरिति अमाला ॥

(४) अश्लिष्ट अमाला परम्परित रूपक का उदारहण –

मेघ के समान श्यामल, शार्ङ्ग नामक धनुष के आघात करने से कठोर एवं तीनों लोक रूपी मण्डप के खम्भे स्वरूप विष्णु की भुजाएँ आप की रक्षा करें।

यहाँ त्रैलोक्य में मण्डप का आरोप करना हरि के बाहुओं में स्तम्भत्व के आरोप में निमित्त है। दूसरा उदाहरण –

हे प्रभु ! अनन्त आश्चर्यों से भरे कालातीत तथा देशातीत अस्तित्ववाले प्रथम कूर्मावतार एकमात्र आप ही चौदहों भुवनवल्लियों के कन्द रूप में विराजमान हैं।

यहाँ राजा में कूर्मत्व के आरोप करने में कन्दत्व का तथा वल्लित्व का आरोप हेतु हैं। अतः यह अमाला रूपक है।

७ - अपह्नुतिः

उपमेयं व्यवस्थाप्य यत्रासत्यतया पुनः ।
उपमानस्य सत्यत्वकथनं स्यादपह्नुतिः ॥१२३॥
आद्या शाब्दी, द्वितीयार्थी द्वेधापह्नुतिरुच्यते ।
वक्ष्यते लक्षणद्वन्द्वं तथा दृष्टातमेतयोः ॥१२४॥
निषेध एवासत्यत्वव्यवस्थापनमुच्यते ।
स यत्र शाब्दः सा शाब्दी, स आर्थो यत्र सार्थगा ॥१२५॥

(१) शाब्दी यथा—

अवाप्तः प्रागल्भ्यं परिणतरुचः शैलतनये !
कलङ्को नैवायं विलसति शशाङ्कस्य वपुषि ।
अमुष्येयं मन्ये विगलदमृतस्यन्द-शिशिरे
रतिश्रान्ता शेते रजनिरमणी गाढमुरसि ॥ [८७]

[का० प्र० – ४३०]

अत्रोपमेयकलङ्कनिषेधः शाब्द एव ।

उपमेय (प्रकृत) को कहकर फिर उसे असत्य कहते हुए जहाँ उपमान (अप्रकृत) की सत्यता कही जाय तो वहाँ अपह्नुति अलंकार होता है। (अपह्नुति का अर्थ अपलाप यानी कही हुए बात को किसी युक्ति से अयुक्त सिद्ध करना है) ॥१२३॥

अपह्नुति दो प्रकार की होती है— पहली शाब्दी और दूसरी आर्थी। इन दोनों भेदों के क्षण एवं उदाहरण कहे जा रहे हैं ॥१२४॥

निषेध को ही असत्यत्व की स्थापना कही जाती है। वह निषेध यदि शब्द द्वारा हो तों शाब्दी और अर्थद्वारा हो तो आर्थी अपह्नुति होतो है ॥१२५॥

(१) शाब्दी अपह्नुति के उदाहरण—

हे पार्वती ! पूर्णकान्तिवाले चन्द्रमा के वक्षःस्थल पर प्रकटित यह पदार्थ कलंक नहीं है, किन्तु यह तो इस चन्द्रमा के द्रवीभूत अमृत की धारा से शीतल वक्षःस्थल पर रतिश्रान्त होकर रजनो (रात) रूपी रमणी (चन्द्रप्रिया) गाढ़ निद्रा में सो रही है। (८७)

यहाँ उपमेय कलंक का निषेध शब्द के द्वारा ही हुआ है। अतः यहाँ शाब्दी अपह्नुति है।

(२) आर्थी यथा—

बत सखि ! कियदेतत् पश्य वैरं स्मरस्य
प्रियविरहकृशेऽस्मिन् [1]कामिलोके तथा हि ।
उपवन-सहकारोद्भासि-भृङ्गच्छलेन
प्रतिविशिखमनेनोट्टङ्कितं कालकूटम् ॥ [८८]

[का० प्र० – ४३१]

यथा वा—

1 – 'रागिलोके' — का० प्र० ।

अमुष्मिँल्लावण्यामृतसरसि नूनं मृगदृशः
स्मरः शर्वप्लुष्टः पृथुजघनभागो निपतितः ।
यदङ्गाङ्गाराणां प्रशमपिशुना नाभिकुहरे
शिखा धूमस्येयं परिणमति रोमावलिवपुः ।। [९०]

[का० प्र० – ४३२]

अत्र सर्वत्र अर्थादवसीयते यद् भृङ्गा न भवन्ति, रोमावली वा न भवतीति । एवं भङ्ग्यन्तरेणापि निषेध आर्थ्येव । यथा "अङ्कं केऽपि शशङ्किरे जलनिधे"-रित्यत्र ।

(२) आर्थी अपह्नुति का उदाहरण—

हाय हाय !! हे सखि ! प्रिय के विरह से दुबली-पतली मुझ जैसे अनुरागवतियों पर कामदेव का कितना बड़ा द्वेष है, यह देखो। यह कामदेव उपवन के आम्रवृक्षों पर शोभित होने वाले भौंरों के व्याज से अपने प्रत्येक वाणों में (आम्रञ्जरी रूप बाणों के अग्रभाग में) तेज विष लगा रखा है।

दूसरा उदाहरण –

हे रसिक ! महादेव के द्वारा जलाया हुआ यह कामदेव इस मृगनयनी के पुष्ट जाँघ के प्रदेश रूपी इस सौन्दर्यामृत के तालाव में अपनी तापशान्ति के लिए निश्चय ही डूब गया है। जिस कामदेव के अंग रूपी अंगारों के बुझने (शान्त होने) के सूचक के रूप में ही धूमशिखा (धुआँ की पंक्ति) नाभि-विल में रोमावलि रूप में उग रही है ।। (८९)

यहाँ सभी जगह अर्थ के द्वारा ही जाना जाता है कि भौंरे नहीं हैं या रोमावली नहीं है। इसी तरह अन्य प्रकार से भी निषेध आर्थी ही है। यथा– "चन्द्रमा के कलंक को किसी ने समुद्र का पंक समझा" इस उदाहरण में देखा जाता है।

(छेकापह्नुति)

संगोप्योऽपि प्रकटितः केनचिद्धेतुना पुनः ।
योऽर्थस्तस्यापलापो यः सोऽप्येकोऽपह्नवः स्मृतः ।।१२६।

अपलापो भवेदेष श्लेषेणान्येन वा पुनः ।

ततोऽयं द्विविधः प्रोक्तः सोदाहरणमुच्यते ।।१२७।।

(३) श्लेषेण यथा—

काले वारिधराणामपतितया नैव शक्यते गन्तुम् ।

उत्कण्ठितासि तरले[1] ! नहि नहि सखि ! पिच्छिलः पन्थाः ।[९०]

[सा० द० – १०, ३८]

अत्रापतितयेति पतिं विनेत्युक्त्वा पश्चात् पतनाभावेनापलापः । यथा वा –

सीत्कारं शिक्षयति व्रणयत्यधरं तनोति रोमाञ्चम् ।

नागरिकः सखि ! मिलितो, नहि नहि सखि ! हैमनः पवनः ।[९१]

[सा० द० – १०, ३९]

(४) अन्येन यथा—

इह पुरोऽनिल-कम्पित-विग्रहा

मिलति का न वनस्पतिना लता ।

स्मरसि किं सखि ! कान्तरतोत्सवं,

नहि, घनागमरीतिरुदाहृता ।। (९२) ।

[सा० द० – १०, ३९]

वक्रोक्तौ परोक्तेरन्यथाकरणम्, इह तु स्वोक्तेरिति भेदः ।

अत्यन्त गोपनीय बात भी यदि किसी कारणवश प्रकटित हो जाय, उस अर्थ के अपलाप (असत्य साबित करना) भी एक प्रकार का अपह्नुति अलंकार है ।।१२६।।

इस प्रकार का अपलाप श्लेष या अन्य के द्वारा होने के कारण दो प्रकार का है जो सोदाहरण प्रस्तुत किया जा रहा है ।।१२७।।

---

1 – 'धवले' – मूलपाठः ।

(३) श्लेष के द्वारा यथा—

मेघ लगने के समय में (विना पति के या) विना गिरे हुए नहीं रहा जा सकता है। 'अरी चञ्चले ! पति के लिए उत्कण्ठित हो' ? नहीं नहीं, सखि ! रास्ता फिसलनेवाला है ।। (९०)।

यहाँ 'अपतितया' से 'पति के विना' अर्थ को प्रकटित कर पीछे उसका 'पतनाभाव' अर्थ करके अपलाप किया गया है। अथवा दूसरा उदाहरण देखें—

'सी-सी' शब्द कराता है, होंठ में घाव बनाता है और रोमांचित कर कर रहा है'। 'अरी सखि ! क्या तुझे चतुर युवक मिल गया है' ? 'नहीं नहीं, सखि ! यह तो हेमन्त ऋतु की हवा है' ।। (९१)।

(४) विना श्लेष के द्वारा—

इस समय आगे में हवा से हिले हुए शरीर वाली कौन सी लता वनस्पति (पेड़) के साथ नहीं मिलती है ?

'अरी सखि ! तू प्रियसमागम के उत्सव को याद कर रही है ?

'नहीं नहीं, मैं तो वर्षा के आगमन की रीति बता रही हूँ"।

वक्रोक्ति अलंकार में दूसरों की उक्ति को विपरीत कहा जाता है, पर यहाँ अपह्नुति में अपनी ही उक्ति को अन्य प्रकार से लगाया जाता है।

८ - श्लेषः

परिवृत्तिसहः शब्द एको यत्रार्थयो र्द्वयोः ।
बोधको भवति श्लेषोऽलङ्कारः समुदाहृतः ।।१२८।।

यथा—

उदयमयते दिग्मालिन्यं निराकुरुतेतरां
नयति निधनं निद्रामुद्रां प्रवर्त्तयति क्रियाः ।
रचयतितरां स्वैराचारप्रवर्त्तनकर्त्तनं
बत बत लसत्तेजःपुञ्जो विभाति विभाकरः ।। (९३)

[का० प्र० – ४१३]

उदयम् उदयाचलं, दिशो मालिन्यम् अन्धकार-सम्बन्धात्। राजपक्षे— उदयं समृद्धिः, दिश्यामां जनानां मालिन्यं दैन्यं दारिद्र्यजम् अस्थानवेषं, निद्रां मनःसम्मीलनं निरुत्साहताञ्च। क्रियां गमनादिरूपां सदाचारं, स्वैराचारः अभिसारादिः शास्त्रोल्लंघनेन यथेष्टाचारः। बत-बत हर्षे, तेजः शौर्यं प्रभा च, विभाया आकरो राजा विभाकरो नाम, पक्षे सूर्यः। अत्र अभिधाया अनियन्त्रणाद् द्वावप्यर्कभूपौ वाच्यौ।

पर्यायवाची शब्द के द्वारा अपना परिवर्त्तन सहनेवाला एक ही शब्द जहाँ दो अर्थों का बोधक होता है, वह श्लेष अलंकार कहा जाता है। यह शब्दश्लेष से भिन्न अर्थश्लेष है जिसमें श्लिष्ट शब्द के स्थान में उसके पर्यायवाची अन्य शब्द रख देने पर भी श्लेष अलंकार होने में कोई अन्तर नहीं पड़ता है ॥१२८॥

उदाहरण— आश्चर्य !! यह विभाकर नामक राजा या सूर्य शोभित हो रहा है जो उदित हो रहा है (उन्नति पा रहा है या उदयाचल पर दीख रहा है,) दिशाओं के लोगों की मलिनता को या दिशाओं के अन्धकार को हटा रहा है, निरुत्साह या आँख मूँदने को समाप्त करता है, सदाचार या काम-काज को आरम्भ कराता है, स्वेच्छाचारिता या अभिसारादि कार्य की प्रवृत्ति को रोकता है और शोभमान कान्ति या किरण से भरपूर है ॥ (९३)।

यहाँ अभिधा के नियन्त्रित न रहने से सूर्य और राजा दोनों ही वाच्यार्थ ही है।

९ - समासोक्तिः

प्रकृतेऽप्रकृताभेदबुद्धिर्या समवस्तुभिः।
समासोक्तिः परिज्ञेया त्रिविधा सा प्रकीर्त्तिता ॥१२९॥

कार्यसाम्ये भवेदेका, लिङ्गसाम्येऽपरा स्मृता ।
साम्ये विशेषणानान्तु तृतीया परिकीर्त्तिता ॥१३०॥

(१) कार्यसाम्ये यथा—

व्याधूय यद् वसनमम्बुजलोचनाया
वक्षोजयोः कनककुम्भविलासभाजोः ।
आलिङ्गसि प्रसभमङ्गमशेषमस्माद्[1]
धन्यस्त्वमेव मलयाचलगन्धवाह ! ॥ (६४)
[सा० द० – १०, ५६]

अत्र प्रकृते गन्धवाहेऽप्रकृतस्य कामुकस्य कार्यसाम्याद-भेदबुद्धिः ।

(२) लिङ्गसाम्ये यथा—

असमाप्तजिगीषस्य स्त्रीचिन्ता का मनस्विनः ।
अनाक्रम्य जगत् कृत्स्नं नो सन्ध्यां भजते रविः ॥ (६५)
[सा० द० – १०, ५६]

अत्र पुंस्त्रीलिङ्गत्ववशाद् रविसन्ध्ययो र्नायकनायिकयोर-भेदबुद्धिः ।

समान वस्तुओं के द्वारा प्रकृत (वर्णनीय) में जो अप्रकृत की अभेदबुद्धि होती है, वह समासोक्ति अलंकार कहलाता है। वह समासोक्ति तीन प्रकार की है ॥१२९॥

पहली समासोक्ति कार्य के साम्य में, दूसरी लिङ्ग के साम्य में और तीसरी विशेषण के साम्य में कही गयी है ॥१३०॥

(१) कार्यसाम्य में समासोक्ति का उदाहरण—

हे मलयाचल के वायु ! इस कमल-लोचना (रमणी) के सोने के घड़े के

1 – 'मशेषमस्या' — सा० द० ।

समान शोभित स्तनों के वस्त्र को बलात् हटाकर जो सम्पूर्ण अंग का आलिङ्गन करते हो, इसलिए तुम ही धन्य हो ।। (६४) ।

यहाँ प्रस्तुत वायु में अप्रस्तुत कामुक के कार्यसाम्य से अभेदबुद्धि है ।

(२) लिङ्गसाम्य में समासोक्ति का उदाहरण—

जीतने की इच्छा पूर्ण न हुए अभिमानशाली पुरुष को स्त्री की चिन्ता क्या होगी ? क्योंकि सम्पूर्ण संसार को आक्रान्त किये विना सूर्य सन्ध्या को नहीं प्राप्त करते हैं ।। (६५) ।

यहाँ रवि और सन्ध्या में पुंल्लिङ्ग और स्त्रीलिङ्ग के रहने से नायक एवं नायिका होने की अभेदबुद्धि है ।

विशेषणस्य साम्यं तु त्रिविधं परिकीर्त्तिम् ।
श्लेषसाधारणत्वाभ्यां तथैवौपम्यगर्भतः ।।१३१।।

(३) १. श्लेषे यथा—

विकसितमुखीं रागावेशाद्[1] गलत्तिमिरावृतिं
दिनकरकरस्पृष्टामैन्द्रीं निरीक्ष्य दिशं पुरः ।
जरठ-लवली-पाण्डुच्छायो भृशं कलुषान्तरः
श्रयति हरितं हन्त ! प्राचेतसीं तुहिनद्युतिः ।। (६६)

[सा० द० – १०, ५६]

अत्र विशेषणवाचिनां मुख-रागादिशब्दानां श्लिष्टत्वेन प्राचेतस्याः कामिन्यभेदबुद्धिः ।

(३) २. साधारण्येन यथा—

निसर्गसौरभोद्भ्रान्त-भृङ्गसङ्गीतशालिनी ।
उदिते वासराधीशे स्मेराजनि सरोजिनी ।। (६७)

[सा० द० – १०, ५८]

1 – 'रागासङ्गाद्' — सा० द० ।

अत्र निसर्गेत्यादि विशेषणसाधारण्यात् सरोजिन्यां नायिकाभेदबुद्धौ स्त्रीमात्रवृत्तेः स्मेरत्वस्य समारोपो हेतुः। तेन विना विशेषणसाम्यमात्रेण नायिकाभेदबुद्धेरसम्भवात्। यथा वा—

लहिऊण तुज्झ बाहुप्फंसं[2] जीए स कोवि उल्लासो।
जअलच्छी तुह विरहे ण हूज्जला दुब्बला णं सा॥ (९८)
[लब्ध्वा तव बाहुस्पर्शं यस्य स कोऽप्युल्लासः।
जयलक्ष्मीस्तव विरहे न खलूज्ज्वला दुर्बला ननु सा॥]
[का० प्र० – ४३४]

अत्र जयनिरुत्साहं प्रति कस्यचिदुक्तिरियम्। उपमेयवाचकस्य जयलक्ष्मीशब्दस्य न कान्तावाचकत्वं तस्य जयश्रीमात्रबोधसामर्थ्यात्। विशेषणानान्तु बाहुस्पर्शोल्लासादीनामुभयानुगतार्थकत्वमस्त्येव। तथा च कान्तोपस्थिते विशेषणोपादानादेवेति भावः।

(३) ३. औपम्यगर्भं यथा—

दन्तप्रभा पुष्पचिता पाणिपल्लवशोभिनी।
केशपाशालिवृन्देन सुवेषा हरिणेक्षणा॥ (९९)
[सा० द० – १०, ५८]

अत्र सुवेषात्ववशात् प्रथमं दन्तप्रभाः पुष्पाणीवेत्युपमानगर्भत्वेन समासः।

विशेषण का साम्य तीन प्रकार का कहा गया है— श्लेष, साधारण और औपम्यगर्भ की दृष्टि ॥१३१॥

(३) 1. श्लेष में उदाहरण—

2 – वाहुप्फंसं — का० प्र०।

हाय ! चन्द्रमा पश्चिम दिशा का आश्रय ले रहा है जो राग (अनुराग या लाली) के होने से विकसित (प्रकाशित वा खिले हुए) मुख (अग्रभाग या मुँह) वाली, विगलित अन्धकार रूपी काली वस्त्रवाली पूर्व दिशा को सामने में दिनकर (सूर्य या उस नामक नायक) के कर (किरण या हाथ) से स्पष्ट देख कर अत्यन्त कलुष (मलिन या अप्रसन्न) आन्तर (कलंक रूप मध्यभाग या चित्त) वाला होकर पके हुए लवली फल के समान पीला कान्तिवाला हो गया है ॥ (९६) ।

यहाँ विशेषार्थवाची मुखरागादि शब्दों के श्लिष्ट रहने से पश्चिम दिशा से कामिनी की अभेदबुद्धि हो रही है ।

(३) 2 साधारण्य के उदाहरण –

स्वाभाविक सुगन्धि पर मँडरानेवाले भौंरों के संगीत से युक्त कमलिनी दिनाधीश सूर्य के उदित होने पर मन्द मुस्कान से युक्त हो गयी ॥ (९७) ।

यहाँ निसर्ग आदि विशेषण के साधारण्य (तुल्य) होने से सरोजिनी में नायिका की अभेदबुद्धि होने में स्त्रीमात्रवृत्ति स्मेरत्व का आरोप ही हेतु है। उसके विना बिशेषण के ही साम्य होने से नायिका भेदबुद्धि असम्भव थी।

इसका दूसरा उदाहरण -

युद्ध के प्रति उदासीन पति के प्रति वीरपत्नी कह रही है कि हे वीर ! तेरे बाँहों के स्पर्श को पाकर जिसे कोई अकथनीय उल्लास हुआ था, वह जयलक्ष्मी तेरे वियोग होने पर उज्ज्वला नहीं, अपि तु दुर्बला हो गयी ॥ (९८)

यहाँ उपमेयमाचक जयलक्ष्मी शब्द कान्तावाचक नहीं है क्योंकि उसमें केवल जयश्री के ही बोध कराने का सामर्थ्य है। उसके विशेषणों बाहुस्पर्शादियों की तो दोनों में (जयश्री और कान्ता में) अनुगत होना उचित ही है। इस प्रकार कान्ता अर्थ की उपस्थिति विशेषणों के द्वारा ही हो रही है।

(३) 3. औपम्यगर्भ का उदाहरण—

फूलों के समान दन्तप्रभा से युक्त (दन्तप्रभाः पुष्पाणीव) या दन्तप्रभा के समान फूलों से युक्त, पल्लव के समान हाथों से शोभित या हाथ के समान पल्लवों से युक्त, भौंरे के समान केशपाश से या केशपाश के समान भौंरे से

सुन्दर वेषवाली मृगनयनी (नायिका) विराजमान है। (यहाँ द्वितीय अर्थ लता पक्ष में योजनीय है॥) (९९)॥

यहाँ सुवेषत्व विशेषण के कारण पहले नायिकापक्ष में 'दन्तप्रभा फूलों के समान' ऐसा उपमागर्भ के द्वारा समास हुआ। पीछे 'दन्तप्रभा के समान फूलों से लदी हुई' इस प्रकार के समास का भी अनुसन्धान होने से समान विशेषण मिल जाने के कारण हरिणेक्षणा में लता के व्यवहार की प्रतीति हो जाती है।

10 – निदर्शना

उपमाकल्पकं यत्र ह्यसंभावितवस्तुनोः।
शब्दार्थयोः प्रकथनं तदेका स्यान्निदर्शना ॥१३२॥
क्वचिद् वाक्यार्थयोरेवासम्भावित्वं क्वचित् पुनः।
पदार्थद्वयसम्बन्धे तेनेयं द्विविधा मता ॥१३३॥

(१) आद्या यथा—

क्व सूर्यप्रभवो वंशः क्व चाल्पविषया मतिः।
तितीर्षुर्दुस्तरं मोहादुडुपेनास्मि सागरम् ॥ (१००)
[का० प्र० – ४३५]

अत्राल्पविषयमतिपुरुषकर्तृकं रघुवंशवर्णनमेको वाक्यार्थः। उडुप-करणक-सागरतरणं द्वितीयो वाक्यार्थः। एतयोरसम्भावित-योरुपमानोपमेयभावकल्पकं कथनम्।

(२) अन्या यथा—

उदयति विततोर्ध्वरश्मिरज्जा-
वहिमरुचौ हिमधाम्नि याति चास्तम्।

वहति गिरिरयं विलम्बिघण्टा-

द्वयपरिवारित-वारणेन्द्रलीलाम् ॥ (१०१) ।

[का० प्र० – ४४६]

अत्र वारणेन्द्रलीलाया वारणेन्द्र एव सम्भवात् तत्सदृशलीलाया एव लक्षणयागवमात् सादृश्यरूपोपमायां पर्यवसाना-न्निदर्शनेत्यर्थः ।

जहाँ असम्भावित उपमावाले दो वस्तुओं में उपमा की कल्पना की जाती है वहाँ प्रथम प्रकार का निदर्शना अलंकार होता है ॥१३२॥

कहीं दो वाक्यार्थों की असंभवता और कहीं दो पदार्थों की असंभवता में सम्बन्ध की कल्पना की जाती है। इस रीति से यह निदर्शना दो प्रकार की है ॥१३३॥

(१) पहली यथा –

कहाँ सूर्य से उत्पन्न वंश और कहाँ कमज्ञानवाली बुद्धि ? अज्ञानतावश छोटी नौका से दुस्तर सागर को तैरना चाहता हूँ ॥ (यह महाकवि कालिदास की उक्ति रघुवंश महाकाव्य में है।)

यहाँ अल्पविषयक मतिवाले पुरुष के द्वारा रघुवंश का वर्णन – ऐसा एक वाक्य का अर्थ है। छोटी नाव के द्वारा सागर पार होना – ऐसा दूसरे वाक्य का अर्थ है। इन दोनों असंभावित उपमावाले वाक्यों के अर्थों में औपम्य की कल्पना की गयी है।

(२) दूसरे का उदाहरण –

विस्तृत ऊर्ध्व किरण-जालवाले सूर्य के उदित होने एवं चन्द्रमा के अस्त होने के समय में यह रैवतक पर्वत दोनों ओर लटकते दो घंटेवाले गजराज की शोभा को धारण करता है ॥

(यह माघकृत शिशुपालवध का पद्य है।) यहाँ गजराज की शोभा तो गजराज में ही संभव है, अतः तत्सदृश लीला की ही लक्षणा से प्रतीति होती है। सादृश्यरूप उपमा में परिणत होने के कारण यहाँ निदर्शना हुई।

(३) निदर्शना-माला यथा—

दोर्भ्यां तितीर्षति तरङ्गवती भुजङ्ग-
मादातुमिच्छति करेण शशाङ्कबिम्बम् ।
मेरुं लिलङ्घयिषति ध्रुवमेष देव !
यस्ते गुणान् गदितुमुद्यममातनोति ॥ (१०२) ।

[का० प्र० – ४३७]

तरङ्गवतीभुजङ्गः समुद्रः । अत्र दोर्भ्यां समुद्रतरणं, करेण चन्द्रबिम्बग्रहणं, पद्भ्यां मेरुलङ्घनं च बाधितम् । अतो भवद्गुणकथनोपमेयेन सहोपमाकल्पनं वैयञ्जनिकम् । तथा च, यथा तत्सर्वं न सम्भवति, तथा भवद्गुणकथनमपि न सम्भवतीति भावः ॥

उपमाकल्पकं यत्र वाक्यं सम्भवतो द्वयोः ।
अर्थयोस्तत्र भवति द्वितीया च निदर्शना ॥१३४॥

(४) यथा—

कोऽत्र भूमिवलये जनान् मुधा
तापयन् सुचिरमेति सम्पदम् ।
वेदयन्निति दिनेन भानुमा-
नाससाद चरमाचलं ततः ॥ [१०३]

[सा० द० – १०, ५१]

अत्र परजनकर्मक-तापनकर्तृनिष्ठचिरकालिकसम्पत्त्याप्त्यभावो विपत्प्राप्ति र्वा एको वाक्यार्थः ।

तादृशार्थकर्मकवेदनकर्तृकचरमाचलकर्मकगमनम् अपरो वाक्यार्थः । तयोः सम्भावितयोरुपमाकल्पकं वाक्यम् ।

कार्यकारणयो र्व्याप्तिः दृष्टान्तेनोच्यते यदा ।
निदर्शना च सा प्रोक्ता तृतीया तु मनीषिभिः ॥१३५॥

(५) यथा—

उन्नतं पदमवाप्य यो लघु र्हेलयैव स पतेदिति ब्रुवन् ।
शैलशेखरगतो दृषत्कणः चारुमारुतधुतः पतत्यधः ॥ [१०४]

[का० प्र० – ४३८]

उन्नतं पदम् उत्कृष्टसम्पदम् ऊद्ध्वंस्थानं च । लघुरल्पबुद्धिरणुपरिमाणयुक्तश्च । पतनं सम्पत्तिभ्रंशः, अधःसंयोगश्च । चारु मन्दः, अन्यथोद्ध्वंगमनमपि स्यात्, लघोरधःपातरूपकार्यकारित्वेन या चारुता । धूतो विरोधिस्पर्शेन कम्पितः । तथा च—लघुकर्तृकोन्नतपदसंबद्धः लघुकर्तृकपतनक्रियाव्याप्यो यथा शैलशिखरगतपाषाणखण्डपतनमिति क्रियादृष्टान्तेन व्याप्तिग्रहः ।

(३) निदर्शनामाला का उदाहरण –

हे देव (राजन्) ! जो यह आपके गुणों को कहने का उद्योग करता है, वह बाँहों से समुद्र को तैरकर पार करना चाहता है, चन्द्रविम्ब को हाथ से पकड़ना चाहता है और सुमेरु पर्वत को लाँघना चाहता है ॥ (४५७) ।

यहाँ बाँहों के द्वारा समुद्रतरण आदि बाधित हैं । अतः राजा के गुणकथनरूप उपमेय के साथ इनके उपमा की कल्पना व्यंग्य हो रही है। इस प्रकार, जैसे ये सब सम्भव नहीं हैं, उसी प्रकार आपके गुणों का वर्णन भी असम्भव है — यह तात्पर्य है ।

जहाँ सम्भावित उपमावाले दो अर्थों के औपम्यवाले वाक्य हों वहाँ दूसरी निदर्शना होती है ॥१३४॥

(४) यथा—

इस पृथ्वीमण्डल पर लोगों को निरपराध सन्तप्त करता हुआ कौन व्यक्ति अधिक समय तक सम्पत्ति में रह सकता है ? अर्थात् कोई नहीं । दिन के द्वारा यह जानते हुए सूर्यदेव अस्ताचल को प्राप्त हो गये ॥ (१०३) ।

यहाँ अन्य जन कर्मक तापनकर्तृ मे रहनेवाला देर तक सम्पत्ति प्राप्ति के अभाव अथवा विपत्ति की प्राप्ति – ऐसा एक वाक्य का अर्थ होता है।

इस प्रकार के कर्म के ज्ञान करानेवाले कर्त्ता के द्वारा अस्ताचल-कर्मक-गमन – ऐसा दूसरा वाक्यार्थ होता है। उन दोनों सम्भावितार्थकों का औपम्यभाववाला वाक्य यहाँ है ॥

जहाँ कार्य और कारण की व्याप्ति दृष्टान्त के द्वारा कही जाती है, वहाँ तीसरी प्रकार की निदर्शना विद्वानों के द्वारा कही गयी है ॥१३५॥

(५) यथा –

तुच्छ व्यक्ति उन्नत पद को पाकर भी साधारण हेतु से ही गिर जाता है – ऐसा कहता हुआ पर्वत की चोटी पर चढ़ा हुआ पत्थर का टुकड़ा मन्द वायु से टकराने से ही नीचे गिर जाता है ॥ (१०४)।

उन्नत पद से उत्कृष्ट सम्पत्ति या उच्च स्थान, लघु से अल्पबुद्धि या बहुत छोटा, पतन से सम्पत्ति की कमी या नीचे गिरना, चारु से मन्द (अन्यथा ऊद्ध्वंगति भी अर्थ किया जा सकता था) या सुन्दरता, 'धूत' से डरा हुआ या कम्पित अर्थ लिया जाता है। इस प्रसार यहाँ लघु के द्वारा किया गया उन्नत पद से सम्बद्ध लघुकर्तृक पतन क्रिया से व्याप्य के समान शैल-शिखरगत पत्थर के खण्ड का पतन – इस क्रिया के दृष्टान्त से व्याप्ति का ज्ञान होता है ॥

११ - अप्रस्तुतप्रशंसा

अप्रस्तुतप्रशंसा स्याद् यदाऽप्रस्तुतवस्तुनः ।
कथनं प्रस्तुतस्यैव भवेदुत्कर्षबोधकम् ॥१३६॥
जन्यकारणसामान्यविशेषसमवस्तुषु ।
प्रस्तुतेषु तदन्यस्य प्रशंसा तेन पञ्चधा ॥१३७॥

[1]कारणं वर्ण्यते यत्र कार्ये प्रस्ताविते गते ।
अप्रस्तुतप्रशंसायास्तत्राद्यो भेद ईरितः ॥१३८॥

(१) यथा—

यातः किन्न मिलन्ति सुन्दरि ! पुनः चिन्ता त्वया मत्कृते
नो कार्या नितरां कृशासि कथयत्येवं सवाष्पे मयि ।
लज्जामन्थरतारकेण निपतत्पीताश्रुणा चक्षुषा
दृष्ट्वा मां हसितेन भाविमरणोत्साहस्तया सूचितः ॥ [१०५]
[का० प्र० – ४३९]

अत्र प्रस्थानात् किं निवृत्तोऽसीति कार्ये पृष्टे कारणस्य प्रियाया भावि-मरणोत्साहस्य वचनम् । किमिति विस्मये । एवं प्रवासमकृत्वैव निवृत्तोऽसीत्यर्थः । किमिति प्रश्ने वा । तेन निवृत्तोऽसाविति प्रश्ने निवृत्तिरेव विषयः. न निवृत्तिजन्यं निवृत्तिकारं वा ।

तथा च किमिति विस्मये, आश्चर्यमिदं[2] यत् प्रवासमकृत्वैव निवृत्तोऽसीत्यर्थपर्यवसानम्, किमिति प्रश्ने च प्रवासमकृत्वैव[3] किं भवान् निवृत्तोऽसीत्यर्थपर्यवयानं, न तु कथं निवृत्तोऽसीति कारणजिज्ञासापर्यवसायि किमिति पदम् ।

जब अप्रस्तु वस्तुत का वर्णन प्रस्तुत वस्तु के उत्कर्ष का ही बोधक हो तो अप्रस्तुतप्रशंसा नामक अलंकार होता है ॥१३६॥

कार्य, कारण, सामान्य, विशेष और तुल्य के प्रस्तुत (वर्णनीय) रहने पर उसके भिन्न अप्रस्तुत कारण, कार्य, विशेष, सामान्य और तुल्य का क्रमशः वर्णन के भेद से अप्रस्तुप्रशंसा पाँच प्रकार की होती है ॥१३७॥

1 – 'वर्ण्यते यत्र कारणं' – मूलपाठः । 2 – विस्मयेश्चर्यमिदं ।
3 – मकृत्वे ।

कार्य के प्रस्तुत (वर्णनीय) रहने पर अप्रस्तुत कारण का जहाँ वर्णन हो, वहाँ अप्रस्तुतप्रशंसा का पहला भेद होता है ॥१३८॥

(१) उदाहरण—

'परदेशगमन को तुमने स्थगित कर दिया' ? मित्र के इस प्रश्न के उत्तर में उसके कारणस्वरूप प्रिया की हालत का वर्णन करता हुआ नायक कहता है। यह पद्य अमरुशतक का है। 'हे सुन्दरि ! परदेश गया हुआ आदमी क्या नहीं मिलता ? अपितु मिलता ही है। अतः फिर तू मेरे लिये चिन्ता मत करना। 'चिन्ता करती हुई तू बहुत दुबली हो गयी हो' – हे मित्र ! इस प्रकार आँसू भरे मेरे कहने पर मेरी प्रिया ने लज्जा से मन्द पुतलीवाले और डबडबाए आँसू को संवरण करने वाले आँखों से मुझे देखकर अपने हास्य के द्वारा अपने भावी मरण के उत्साह को सूचित किया ॥ (१०५)।

यहाँ प्रस्थान से निवृत्त हो गये हो क्या ! इस कार्य के पूछे जाने पर उसके कारण प्रिया के भावी मरणोत्साह को कहा गया है। किम् विस्मयार्थक है, अतः 'क्या प्रवास नहीं कर लौट गये हो ?' ऐसा अर्थ होता है। अथवा किम् प्रश्नार्थक ही रहेगा, इससे 'क्या वह लौट गया ?' इस प्रश्न के होने पर निवृत्ति ही विषय हुआ, न कि निवृत्ति के द्वारा उत्पन्न या निवृत्ति करना ही। इस प्रकार 'किम्' के विस्मयार्थक पक्ष में प्रवास के विना ही लौटे हो ? इस अर्थ का लाभ होता है, जबकि प्रश्नार्थक पक्ष में 'प्रवास न करके क्या आप लौट गये ?' इस अर्थ का लाभ होता है, न कि 'क्यों लौटे हो ?' इस कारण की जिज्ञासा का बोधक किम् शब्द है।

कार्यस्य वर्णना चान्या प्रस्तावे कारणस्य या ।
अप्रस्तुतप्रशंसाया द्वितीयो भेद उच्यते ॥१३९॥

(२) यथा—

वन्यो हस्ती स्फटिकघटिते भित्तिभागे स्वबिम्बं
दृष्ट्वा रुष्टः प्रतिगज इति त्वद्द्विषां मन्दिरेषु ।
तत्राघाताद् दलितदशनस्तं पुन र्वीक्ष्य कामी
मन्दं मन्दं स्पृशति करिणीशङ्कया साहसाङ्कम् ॥ (१०६)

राजन् ! राजसुता न पाठयति मां, देव्योऽपि तूष्णीं स्थिताः'
कुब्जे ! भोजय मां 'कुमारसचिवै र्नाद्यापि किं भुज्यते' ।
इत्थं राजशुकस्तवारिभवने मुक्तोऽध्वगैः पञ्जरा-
च्चित्रस्थानवलोक्य शून्यवलभावेकैकमाभाषते ॥ (१०७)
[का० प्र० – ४४०]

कुमारश्च तत्सचिवाश्चेति । अत्र शत्रुजयोद्यतं राजानं प्रति शत्रुपलायने प्रतिपादयितव्ये तन्मन्त्रिण इयमुक्तिः । अत्र प्रस्थानरूपकारणप्रस्तावे तत्कार्यस्य शत्रुपलायनस्याभिधानम् ।

जहाँ कारण के प्रस्ताव में कार्य का वर्णन हो वहाँ अप्रस्तुतप्रशंसा का द्वितीय भेद कहा जाता है ॥१३९॥

(२) यथा –

हे देव ! आपके शत्रुओं के भवनों में अभी वनैला हाथी स्फटिकयुक्त दीवारों पर अपनी परछाँईं देखकर उसे प्रतिद्वन्द्वी हाथी समझकर क्रुद्ध होकर उस पर दाँतों से प्रहार करता है और उससे उसका अपना ही दाँत टूट जाता है। फिर उस भित्ति पर टूटे दाँतवाले अपने प्रतिबिम्ब को देखकर उसे हथिनी समझते हुए कामुक होकर उस परछाँई युक्त दीवाल को मन्द मन्द सहलाने लगता है ॥ (१०६) ।

'हे राजन् ! आज मुझे राजकुमारी नहीं पढ़ा रही है, रानियाँ भी चुप पड़ी हैं । 'हे कुब्जे (दासी) ! मुझे खिलाओ, राजकुमार एवं सचिव लोग अभी तक क्यों नहीं खा रहे हैं' ? — इस तरह हे महाराज ! आपके शत्रुओं के भवन में बटोहियों के द्वारा पिंजरा से मुक्त किया गया तोता दीवाल पर चित्रित उनलोगों को देखकर शून्यस्थान में एक-एक से कह रहा है ॥ (१०७)

यहाँ 'कुमार' यह संबोधन पद नहीं है, अपि तु कुमार और उसके सचिव लोग' ऐसा अर्थ है। यहाँ शत्रु-विजय के लिये उद्यत राजा के प्रति शत्रुपलायन कहने के लिये उनके मन्त्री की यह (उपर्युक्त दोनों श्लोक) उक्ति है। यहाँ प्रस्थान रूप कारण के प्रस्ताव में उसके कार्य शत्रुपलायन का कथन हुआ है।

सामान्ये प्रस्तुते चैका विशेषस्य तु वर्णना ॥१४०॥

(३) यथा—

एतत् तस्य मुखात् कियत् ? कमलिनीपत्त्रे कणं वारिणो
यन्मुक्तामणिरित्यमंस्त स जडः शृण्वन् यदस्मादपि ।
अङ्गुल्यग्रलघुक्रियाप्रविलयिन्यादीयमाने शनैः
कुत्रोड्डीय गतो ममेत्यनुदिनं निद्राति नान्तःशुचा ॥-(१०८)

[का० प्र० – ४४१]

तस्य मुखादवगतमेतत् कियत् तदाह, कमलिनीपत्त्रस्थितं वारिणः कणं मुक्तामणिरिति यदमस्त, अस्मादपि अन्यत् शृणु, आदीयमाने गृह्यमाणे अङ्गुलावेव प्रविलयिनि लीने सति ममेति कुत्रोड्डीय गत इत्यनुदिनं न निद्राति अन्तश्शुचा। जड़ानाम-स्थान एव ममत्वबुद्धिरिति सामान्ये प्रस्तुते विशेषो वारिकणे मुक्ताभ्रमः, पुरुषविशेषस्य ममत्वविशेषोऽभिहितः। यथा वा—

स्रगियं यदि जीवितापहा
मम कण्ठे निहिता निहन्तु माम् ।
विषमप्ययृतं क्वचिद् भवे-
दमृतं वा विषमीश्वरेच्छया ॥ (१०९) ।

[सा० द० – १०, ५६]

ईश्वरेच्छायाः सामान्यतः कारणत्ववर्णनावसरे विशेषस्य वर्णना स्रग्रित्यादिना ।

जहाँ सामान्य के प्रस्तुत रहने पर विशेष का वर्णन हो वहाँ अप्रस्तुत-प्रशंसा का तृतीय भेद होता है ॥१०४॥

(३) यथा—

उस मूर्ख के मुख से यह (निरर्थक वचन) निकला सो कितना है, अर्थात् बहुत कम ही है, क्योंकि वह मूर्ख कमल के पत्तो पर पड़े जलके कण को मुक्तामणि समझ बैठा और इससे भी मजे की बात है कि उस जल रूपी मुक्तामणि को उठाने के लिये चेष्टा करने पर वह जल उसके अंगुली के अग्रभाग में लग कर विलीन हो गया। इस पर वह मूर्ख कहने लगा कि यह मेरा मणि कहाँ उड़कर चला गया। उसे हृदय में इतना शोक हुआ कि वह कई दिनों से सोता भी नहीं है ॥ (१०८)।

जड़ों (मूर्खों) को अस्थान में ही ममत्वबुद्धि होती है, इस सामान्य वस्तु के वर्णनीय रहने पर पर विशेष वस्तु जलकणा में मुक्ता भ्रम एवं पुरुष विशेष का ममत्वबुद्धि कहा गया है।

इसका दूसरा उदाहरण –

(देह पर माला के गिरने से इन्दुमती रानी की मृत्यु पर रघुवंश महाकाव्य में यह अज महाराज की उक्ति) — यह माला यदि जीवन को नाश करनेवाली है तो मेरे गले में पड़ी हुई मुझे मार दे, परन्तु ऐसा नहीं करती है। ईश्वर की इच्छा से कहीं विष भी अमृत एवं अमृत भी विष हो जाता है।

ईश्वरेच्छा के सामान्यतः कारण का वर्णन करने के अवसर में विशेष का वर्णन "स्रगियम्" इत्यादि पद्य से द्वारा किया गया है।

विशेषे प्रस्तुते चान्या सामान्यस्य तु वर्णना ॥१४१॥

(४) यथा—

सुहृद्वधूवाष्पजलप्रमार्जनं करोति वैरं प्रतियातनेन यः।
स एव पूज्यः स पुमान् स नीतिमान्-
सुजीवितं तस्य स भाजनं श्रियः ॥ (११०)।

[का० प्र० – ४४२]

अत्र कृष्णं निहत्य यदि नरकासुरवधूनां दुःखं शमयसि, तदा त्वमेव श्लाध्य इति विशेषे प्रस्तुते सामान्यमुक्तम्।

तुल्यस्य वर्णना चैका तुल्ये वस्तुनि प्रस्तुते ।
तुल्ये तुल्याभिधा रूपा त्रिविधेयं प्रकीर्त्तिता ॥१४२॥
श्लेषे द्विधा, विना तेन चैकेयं परिकीर्त्तिता ।
विशेषणविशेष्याणां वाचिनां श्लेषसम्भवा ॥
एका विशेषणस्यैव वाचिनां श्लेषजा परा ॥१४३॥
श्लेषाभावे च या प्रोक्ता सा च सादृश्यमात्रतः ।
यत्र स्यात् प्रकृताक्षेपस्तत्र स्यादिति वक्ष्यते ॥१४४॥

(५) विशेषणविशेष्यवाचिपदश्लेषमूला यथा—

पुंस्त्वादपि प्रविचलेद् यदि यद्यधोऽपि
[1]यायादरिप्रणयनेन महानपि स्यात् ।
अभ्युद्धरेत् तदपि विश्वमितीदृशीयं
केनापि दिक् प्रकटिता पुरुषोत्तमेन ॥ (१११) ।

[का० प्र० – ४४३]

पुंस्त्वं योगक्षेमसामर्थ्यं पुरुषत्वं च। अधोगमनं सम्पद्भ्रंशः पातालगमनञ्च । महान् प्राप्तोत्कर्षः त्रिविक्रमश्च । अभ्युद्धरणं विपद्विनाशनं, दिक् प्रकारः। यदि पुंस्त्वादपि प्रविचलेत् तदापि विश्वमुद्धरेत्। अत्र कृष्णस्य पक्षे कैटभीस्वरूपस्त्रीत्वापत्त्या सुरविरोधिनां मोहनेन तेभ्योऽमृतकर्षणेन विश्वरक्षा। यद्यधोऽपि यायात् तदपि विश्वमुद्धरेत्। वराहमूर्त्या पातालप्रवेशात्मकाधोगमने पृथिव्युद्धरणं विश्वरक्षा। अरिप्रणयनेन बलिना प्रार्थनेन पृथिवीं त्रिविक्रमरूपेणासुरनिराकरणाद् वामनावतारे विश्वरक्षणम् ।

1 – यायाद् यदि प्रणयनेन – का० प्र० ।

अत्र पुरुषश्रेष्ठः कस्मिँश्चित् प्रकृते तदुपमानीभूतः श्रीकृष्णोऽभिहितः। पुरुषोत्तमपदेन श्लेषवशात् प्रकृतराजादिप्रत्यायनम्। तथा त्वं स्वात् पुरुषत्वाद् यदि प्रचलेरित्यनेन त्वयापि तथाभूतेन सराज्यमुद्ध्रियेत इतिभावः।

विशेष के प्रस्तुत रहने पर सामान्य के वर्णन को अप्रस्तुतप्रशंसा के चतुर्थ भेद कहते है ॥१४१॥

(४) यथा —

जो वीर पुरुष शत्रु को मर्दितकर अपने मित्र के वधुओं का आँसू पोछता है, वही पूज्य है, पुरुष है, नीतिज्ञ है और उसी का जीवन धन्य है तथा वही लक्ष्मी का कृपापात्र होता है ॥ (११०)।

यहाँ श्रीकृष्ण को मारकर यदि नरकासुर के त्रियों के दुःखों को दूर करते हो तो तुम्हीं प्रशंसनीय हो' इस विशेष वस्तु के प्रस्तुत रहने पर सामान्य रूप से ही कहा गया है।

तुल्य वस्तु के प्रस्तुत रहने पर तुल्य वस्तु का वर्नन इस अलंकार का पाँचवाँ भेद है। यह तुल्य के प्रसंग में तुल्यकथन रूपा अप्रस्तुतप्रशंसा तीन प्रकार की कही गयी है ॥१२२॥

श्लेष रहने पर यह दो प्रकार की तथा श्लेष के विना एक ही प्रकार की होती है। विशेषण और विशेष्य के वाचक पदों में श्लेष रहने पर एक तथा केवल विशेषणवाचक पद में श्लेष रहने पर एक भेद होता है ॥१४३॥

श्लेष के अभाव में जो अप्रस्तुतप्रशंसा कही गयी है, वह सादृश्यमात्र से प्रकृत के आक्षेप होने पर होती है जो आगे कही जायगी ॥१४४॥

(५) (क) विशेषण-विशेष्यवाचक पदों के श्लिष्टि रहने पर "तुल्ये तुल्याभिधा" अप्रस्तुतप्रशंसा का उदाहरण—

(इस पद्य का श्रीकृष्णपक्ष में तथा राजपक्ष में योजन किया जाता है।) पुंस्त्व=योगक्षेमसामर्थ्य से (राजपक्ष में पुरुषत्व से) विचलित होने पर भी, (वराहावतार में) पातालगमन से भी (राजपक्ष में – सम्पत्तिभ्रंश होने पर

भी), शत्रु (वलि दैत्य, राजपक्ष में – विरोधियों) की प्रार्थना करने पर भी वह महान् (त्रिविक्रम विष्णु, राजपक्ष में – उत्कर्षवाला) संसार का उद्धार कर सकता है । इस प्रकार कोई विलक्षण पुरुषोत्तम ने (श्रीकृष्ण या राजा) इस प्रकार का दिग्दर्शन प्रकटित कर दिया है ।। (१११) ।

पुंस्त्व से आय-व्ययसन्तुलन एवं पौरुष, अधोगमन से सम्पत्तिच्युत तथा पातालगमन से महान् उन्नतिवाला तथा त्रिविक्रम विष्णु, अभ्युद्धरण से विपत्ति का नाश तथा दिक् शब्द से रीति का बोध हो रहा है। यदि पुंस्त्व से भी विचलित होवे तथापि संसार के विपत्ति का नाश करे। यहाँ श्रीष्ण के पक्ष में कैटभी रूप स्त्री होने से, देवविरोधियों को मोहकर उनसे अमृत लेकर विश्व की रक्षा हुई थी। यदि नीचे भी जाय तथापि विश्व का उद्धार करे। वराहमूत्ति के द्वारा पाताल प्रवेश रूप अधोगमन करने पर पृथ्वी की रक्षा ही विश्व रक्षा हुई। शत्रु की प्रार्थना करने से, अर्थात् बलि से पृथ्वी माँगने से त्रिविक्रम रूप के द्वारा राक्षसों के हटाने से वामनावतार में विश्व की रक्षा हुई थी।

यहाँ पुरुषश्रेष्ठ, किसी वर्णनीय (राजा) के प्रसंग में उसके उपमान वने हुए श्रीकृष्ण कथित हैं। पुरुषोत्तम पद से श्लेषवशात् वर्णनीय राजा का वोध होता है। उसी प्रकार 'तुम यदि अपने पौरुष से विचलित भी होते हो, यथापि उस रीति से अपने राज्य का उद्धार कर सकते हो' — यह राजा के प्रति कवि का भाव है।

(५) (ख) विशेषणमात्रश्लेषे यथा—

येनास्यभ्युदितेन चन्द्र ! गमितः क्लान्तिं, रवौ तत्र ते
युज्येत प्रतिकर्तुमेव न पुनस्तस्यैव पादग्रहः ।
क्षीणेनैतदनुष्ठितं यदि ततः किं लज्जसे नो मना-
गस्त्वेवं जड़धामता च भवतो यद् व्योम्नि विस्फूर्जसे ।। (११२)

[का० प्र० – ४४४]

उदितेन उदितिमात्रेण, न त्वपकारादिना, येन परां क्लान्तिं

गमितोऽसि, तत्र रवौ प्रतिकर्त्तुं युज्यते तव, न पुनस्तस्यैव रवेः पादः किरणः तस्यग्रहणम्। यदा 'अमावास्यायां चन्द्रस्य सूर्यकिरणप्रवेश' इति पौराणिकाः। यदि एवं क्षीणेन एतदनुष्ठितम् इति तव मनसि अर्थश्च तदापि मनाक् कुतो न लज्जसे ? तद् भवतो जड़धामता जाड्यमित्यर्थः।

अत्र शत्रुसेविना निर्लज्जस्याप्रकृतपुरुषस्य प्रकृतचन्द्रव्यवहारः प्रतीयते। अत्र विशेष्यवाचिचन्द्रपद न श्लिष्टम्।

(५) (ग) श्लेषविरहे यथा—

आदाय वारि परितः सरितां मुखेभ्यः
किं तावदर्जितमनेन दुरर्णवेन।
क्षारीकृतञ्च वड़वादहने हुतञ्च
पातालकुक्षिकुहरे विनिवेशितञ्च ॥ (११३)।

[का० प्र० – ४४५]

अत्र श्लेषाभावे सादृश्यमात्रेण सत्पुरुषाक्षेपः।

(५) (ख) विशेषणमात्र के श्लेष में उदाहरण —

हे चन्द्रमा ! जिस सूर्य के उदित होने पर ही तुम मन्द (कलाहीन) पड़ जाते हो, उसके प्रति तो तुम्हें प्रतीकार करना चाहिए, न कि उसके किरणों का ग्रहण करना चाहिए था (अमावास्या में सूर्य का किरण चन्द्र में प्रविष्ट होता है — ऐसा पौराणिघों का कथन है।) यदि क्षीण (कलाहीन) होने के कारण ऐसा किया तो तुम जरा सा लज्जित क्यों नहीं होते हो ? वल्कि उल्टे ही आकाश में अभिमान के साथ उदित हो गये हो। इससे तो जडधामता (मूर्खता का स्थान होना या शीतलता का आश्रय) होना ही सिद्ध होता है ॥ (११२) ॥

यहाँ शत्रुपद के सेवन से निर्लज्ज अप्रकृत पुरुष का प्रकृत चन्द्र में व्यवहार प्रतीत होता है। यहाँ विशेष्यवाचक चन्द्र पद में श्लेष नहीं है। अपितु

विशेषणवाचक सभी पद चन्द्र एवं राजा दोनों में घटित होते हैं। उदित से उन्नति प्राप्त, पादग्रह से चरणसेवा, क्षीण से विभवहीन, व्योमविस्फूर्जन से घमण्ड से बोलना अर्थ भी विवक्षित हैं।

(५) (ग) इस दुष्ट समुद्र ने सभी ओर से आने वाली नदियों के मुखों से जल लेकर क्या अरज लिया? कुछ नहीं, बल्कि उस जल को खारा बना दिया, वड़वानल में जला दिया और पाताल के गर्त में गिरा दिया ॥ (११३)।

यहाँ श्लेष के अभाव में सादृश्यमात्र से असत्पुरुष का आक्षेप हुआ है।

काचित् प्रतीयमानार्थानध्यारोपेण जायते।
काचित् प्रतीयमानार्थाध्यारोपेण च जायते ॥१४५॥
काचित् प्रतीयमानार्थाध्यारोपेण तु जायते।
आरोपतस्त्वनारोपादांशिकादपराऽपि च ॥
एवमेषा त्रिधा प्रोक्ता श्लेषशून्योपमाकृता ॥१४६॥

(१) प्रतीयमानार्थानध्यारोपेण यथा—

अब्धेरन्तः [1]स्थगितगगनाभोगपातालकुक्षेः
[2]पोतोपायादिह हि बहवो लङ्घनेऽपि क्षमन्ते।
[3]अम्भोरिक्तः कथमपि भवेदेष दैवात् तदानीं
को नाम स्यादवटकुहरालोकनेऽप्यस्य कल्पः ॥ (११४)

[का० प्र० – ४४६]

अन्तःस्थगितगगनाभोगपातालकुक्षेः अब्धेः लङ्घनेऽपि क्षमन्ते बहवो जनाः। कुतः? पोतोपायात्। दैवात् एष अम्भोरिक्तो भवेत् तदानीम् अस्य अवटकुहरालोकनेऽपि को नाम कल्पः समर्थः?

1 – स्थगितभुवनाभोग — का० प्र०। 2 – पोतोपाया इह हि – का० प्र०।
3 – आहो रिक्तः — का० प्र०।

अत्र सम्पदि अधिगम्योऽपि विपदि अधृष्यो यः पुरुषस्तस्य प्रस्तावे तत्तुल्यस्य समुद्रस्य वर्णना। अत्र सम्पदि अधिगम्योऽपि पुरुषः विपदि अधृष्यो भवतीति सादृश्यमात्रं व्यङ्ग्यः। अत्र समुद्रेऽप्येतेऽर्था अबाधिता एव, इति न प्रतीयमानार्थाध्यारोपः।

(२) प्रतीयमानार्थाध्यारोपेण यथा—

कस्त्वं भोः ! कथयामि दैवहतकं मां विद्धि शाखोटकं[4],
वैराग्यादिव वक्षि, साधु विदितं, कस्मादिदं कथ्यते।
वामेतात्र वटस्तमध्वगजनः सर्वात्मना सेवते
न च्छायापि परोपकारकरणे मार्गस्थितस्यापि मे ॥ [११५]
[का० प्र० – ४४७]

भूतनिवासत्वेन शाखोटकच्छायानाश्रयणम्। अत्र सम्बोध्यत्वं वाक्यार्थबोधसमवायित्वेनोद्देश्यत्वं वक्तृत्वञ्च मदन्तःसञ्ज्ञया शाखोटे बाधितमिति दीनपुरुषाध्यारोपः।

(३) आंशिकारोपानारोपे यथा—

सोऽपूर्वो रसनाविपर्ययविधिस्तत्कर्णयोश्चापलं
दृष्टिस्सा मदविस्मृता स्वपरदिक् किं भूयसोक्तेन वा।
सर्वं विस्मृतवानसि भ्रमर हे ! यद्वारणोऽद्याप्यसा-
वन्तःशून्यकरो निषेव्यत इति भ्रातः ! क एष ग्रहः ॥ [११६]
[का० प्र० – ४४८]

अग्निशापाद् वारणस्य रसनापरिवृत्तिरिति पुराणवार्ता। पक्षे रसनाविपर्ययः पूर्वापरविरुद्धाभिधानम्। कर्णचापलं कर्णकम्पः, पक्षे परवादश्रवणरसिकता। मदोऽहङ्कारो दानजलञ्च।

4 – 'शाखोटकं विद्ध मां' — का० प्र०।

स्वपरदिक् स्वान्तानाप्तविभागः। वारयतीति वारणोऽनुगतनि-स्सारको हस्ती च। अन्तःशून्यकरो निर्धनः, अस्थिमांसादि-शून्यमध्यशुण्डः।

अत्र रसनाविपर्ययः शून्यकरत्वञ्च भ्रमस्यासेवने हेतुः। तेनाप्रकृते भ्रमरे निवारितप्रपन्नसेवकत्वारोपः। वर्णस्य चापलन्तु तद्धेतुः, ततस्तस्य नारोपः। मदः प्रत्युत भ्रमरसेवने निमित्तं मदस्य भ्रमरापेक्षितत्वात्। तदिह सेवने कस्यचित् सम्भवान्ना-ध्यारोपः, कस्यचिदसम्भवादध्यारोपः। भ्रमरे कस्यचिदारोपः, कस्यचिन्नेति भावः॥

सादृश्यमात्रहेतुक अप्रस्तुतप्रशंसा कहीं पर प्रतीयमान (व्यंग्य) अर्थ के आरोप न रहने पर होती है। कहीं पर प्रतीयमान अर्थ के आरोप रहने पर ही होती है और कहीं पर प्रतीयमान अर्थ के आरोप से होती है, पर वह आरोप अंशतः रहे और अंशतः नहीं भी रहे। इस प्रकार यह सादृश्यमात्र-हेतुक (श्लेष रहित) अप्रस्तुतप्रशंसा तीन प्रकार की होती है ॥१४५-४६॥

(१) व्यंग्यार्थ के अनारोप से यथा—

अपने अन्दर में आकाश के विस्तार एवं पाताल के पेट को समेट लेने-वाले समुद्र को भी लाँघने में बहुत से लोग जहाज के द्वारा सक्षम हो सकते हैं। संयोगवश यदि वह समुद्र जलहीन हो जाय तो इसके विशाल गम्भीर गर्त्त को उस समय भला कौन देखने में समर्थ हो सकता है?

यहाँ सम्पत्ति में सुलभ भी पुरुष विपत्ति में अनाक्रमणीय हो जाता है। उस पुरुष के वर्णन के प्रसंग में उसके तुल्य समुद्र का सादृश्यमात्र व्यंग्य है। यहाँ समुद्र में भी ये अर्थ अबाधित ही हैं। अतः यहाँ व्यंग्य अर्थ का आरोप नहीं हुआ है।

(२) प्रतीयमान अर्थ के अध्यारोप से अप्रस्तुतप्रसंसा का उदाहरण—

अजी! 'तुम कौन हो'? कहताहूँ, अभागा मुझे आप सेहुँड का पेड़ जाने'। विरक्त के जैसा बोल रहे हो'। आपने ठीक ही समझा'। ऐसा क्यों

कह रहे हो' ? यहाँ बाँयीं ओर जो बड़ का पेड़ है उसे सभी राही सब तरह से सेवित करते हैं। इस राह के किनारे स्थित रहने पर भी मेरी छाया भी परोपकार करने में समर्थ नहीं है।

भूत के निवास होने के कारण सेहुँड़ की छाया में लोग नहीं जाते हैं। यहाँ सम्बोधित होना, वाक्यार्थ बोध के समवाय रूप से उद्देश्य होना और वक्ता होना मद भरे हृदय के द्वारा सेहुँड के पेड़ में बाधित है। अतः दीन पुरुष का आरोप उस पेड़ पर हो जाता है।

(३) आंशिक आरोप और अनारोप का उदाहरण —

हे भ्रमर ! तू यह सब भूल बैठा कि इस वारण (हाथी या भक्त सेवक का निरादर करने वाले) का ही वही अपूर्व उल्टा जीभ रखने की आदत (हाथी को अग्निशाप से जीभ उलट गया, यह पौराणिकी कथा है। या पूर्वापर विरुद्ध बातें बोलना) है, वही कानों की चञ्चलता (कनों का हिलाना या दूसरे के दोष सुनने की स्पृहा) है, या अधिक क्या कहा जाय, जिसकी दृष्टि मद से (मदजल या गर्व से) अपने तथा पराये मार्ग (राह या कर्त्तव्य) को भूल चुकी है। जो कि इस अन्तःशून्यकर (खोखले सूँडवाले या रिक्त-हस्त निर्धन) वारण (हाथी या सेवक को निरादर करनेवाले) की आज भी सेवा कर रहे हो, सो हे भाई ! यह कैसा तेरा दुराग्रह है ?

यहाँ रसनाविपर्यय और शून्यकरत्व वारण का भ्रमर के द्वारा असेवन में हेतु है। इससे प्रकृत भ्रमर में भक्त सेवक को तिरस्कृत करनेवाले पुरुष का आरोप है। कर्णचापल तो इस आरोप में हेतु है। इसलिये उसका आरोप नहीं है। मद तो भ्रमर का सेवन में निमित्त है क्योंकि मद भ्रमर से अपेक्षित है। इस तरह यहाँ सेवन में किसी वस्तु के सम्भव होने से आरोप ही नहीं है और किसी के असम्भव होने से आरोप है। भ्रमर में किसी का आरोप और किसी का नहीं, यही आशय है।

१२ – अतिशयोक्तिः

भेदज्ञानासहकृतमाहार्यं निश्चयात्मकम् ।
ज्ञेया सातिशयोक्तिस्तु यत्रान्याभेदबोधनम् ॥१४७॥

तस्या भेदान् प्रवक्ष्यामि तदुदाहरणानि च ।
विवेचिता ये भट्टेन प्रीतये कविबादरेः ॥१४८॥
उपमेयस्य रूपेण शून्या यत्रोपमेयगा ।
उपमानस्य रूपेणाभेदधीः प्रथमा स्मृता ॥१४६॥

(१) यथा—

लतामूले लीनो हरिणपरिहीनो हिमकरः
स्फुरत्ताराकारा गलति जलधारा कुवलयात् ।
प्रणीते बन्धूकं तिलकुसुमजन्मापि पवनो
गृहद्वारे पुण्यं परिणमति कस्यापि कृतिनः ॥ (११७)

— (सा० द० हरिदासटीकायामुद्ध्रितः) ।

अत्रोपमेयं बाह्वादि, तद्रूपं बाहुत्वादि, [1]तच्छून्यम् उपमानं लतादि, तद्रूपं लतात्वादि, तेन रूपेणाभेदधीरुपमानोपमेययोः ।

यत्र स्यादुपमेयस्य धीरन्यत्वप्रकारिका ।
द्वितीयातिशयोक्तिः सा प्रोक्ता पूर्वमनीषिभिः ॥१५०॥

(२) यथा—

अन्यदेवाङ्गलावण्यमन्याः सौरभसम्पदः ।
अस्याः पद्मपलाशाक्ष्याः [2]साहसत्वमलौकिकम् ॥ (११८)

[सा० द० – १०, ४७]

अतिशयोक्ति

भेदज्ञान के विना ही जहाँ निश्चयात्मक आरोप रहे तथा अन्य (अप्रकृत) से अभेद का बोध हो वहाँ अतिशयोक्ति अलंकार होता है ॥१४७॥

---

1 – 'तच्छन्या' – मूलपाठः ।
2 – 'सरसत्व' – सा० द० ।

उसके भेदों एवं उदाहरणों को जो मम्मटभट्ट के द्वारा विवेचित है, कवि बादरि (कृष्णकेलिमालानाटिकाकार अट्ठारहवीं शताब्दी के प्रख्यात मैथिली कवि नन्दीपति) की प्रीति के लिए कहूँगा ।।१४८।।

जहाँ उपमेय के रूप से शून्य उपमेय में रहने वाली उपमानरूप की अभेदबुद्धि रहे, वहाँ पहली अतिशयोक्ति होती है ।।१४६।।

(१) यथा -

लता के जड़ में हरिणांक (कलंक) से हीन चन्द्रमा छिपा हुआ है, नील-कमल से चमकते तारों के आकार की जल की बूँदें गिर रहीं हैं, तिल के फूल से निकला हुआ वायु वन्धूक (माधुरी) के फल को बना (खिला) रहा है— ऐसा पुण्य किसी भाग्यान् के गृहद्वार पर ही परिणत होता है ।

यहाँ उपमेय बाँह, मुख, आँख, नाक और होंठ हैं, उनके रूप से वाहुत्वादि प्रतीत हैं। उनसे शून्य लता, चन्द्र, नीलकमल, तिलपुष्प और बन्धूक-पुष्प हैं, उनके रूप से लतात्वादि प्रतीत हैं। उसी रूप से उपमान और उपमेय में अभेदबुद्धि हो रही है ।।

जहाँ उपमेय की बुद्धि अन्य (उपमान) की प्रकाशिका हो वहाँ विद्वानों ने दूसरी अतिशयोक्ति बतलाई है ।।१५०।।

(२) उदाहरण—

इस कमल की पंखुड़ियों के समान आँखवाली नायिका के शरीर का सौन्दर्य कुछ और ही है, गमक-चमक विलक्षण हो है और साहस भी अलौकिक ही है ।

यहाँ प्रस्तुत सुन्दरी के सौन्दर्य लोकसामान्य होने पर भी अलौकिक रूप से वर्णित है ।

तृतीया चेत्पदेनोक्तौ सति-शब्देन वा पुनः ।
अर्थात् प्रकल्पना या स्यादसम्भावित-वस्तुनः ।।१५१।।

(३) यथा—

राकायामकलङ्कञ्चेदमृतांशोर्भवेद् वपुः ।
तस्या मुखं तदा साम्यपराभवमवाप्नुयात् ।। (११६)

[का० प्र० – ४५१]

यथा च—

लज्जा तिरश्चां यदि चेतसि स्या-
दसंशयं पर्वतराजपुत्र्याः ।
तं केशपाशं प्रसमीक्ष्य कुर्यु-
र्वालप्रियत्वं शिथिलं चमर्यः ॥ (१२०) ।

[कुमारसम्भवम् – १, ४८]

शीघ्रकारितया बोद्धुं कारणं कारणोवितत: ।
प्राक्काला समकाला वा कार्योक्तिः सा तुरीयका ॥१५२॥

(४) यथा—

हृदयमधिष्ठितमादौ मालत्याः कुसुमचापबाणेन ।
चरमं रमणीवल्लभ! लोचनविषय त्वया भजता ॥ (१२१)

[का० प्र० – ४५२]

रमणीवल्लभो राजविशेषः, मालती नायिका-विशेषः, मालत्या लोचनविषयता कारणं, कुसुमचापबाणस्य हृदयाधिष्ठानं कार्यम् । अत्र नृपदर्शनस्य झटिति हारकता प्रतीयते ।

तीसरी अतिशयोक्ति वह है जहाँ 'चेत्' शब्द से या 'यदि' शब्द से असम्भावित वस्तु के अर्थ की कल्पना की जाय ॥१५१॥

(३) यथा—

पूर्णिमा की रात में चन्द्र के देह (विम्ब) यदि कलंक रहित हो, तो तब उस सुन्दरी का मुख अपनो समता देखकर अपना अपमान समझ सकता है ॥ यहाँ चेत् शब्द से असंभावित अकलंक-चन्द्र की तथा चन्द्र और मुख में साम्य की कल्पना की गयी है ।

दूसरा उदाहरण –

यदि पशुपक्षियों को लज्जा होती हो तो निश्चय ही पार्वती के उस प्रशस्त केशपाश को देखकर चमरी मृग अपनी केशप्रियता के गर्व को ढीला कर देते ॥

कारण की शीघ्रकारिता बतलाने के लिये कारण के कथन से पहले या समानकाल में कार्य के कथन को चौथी अतिशयोक्ति कहते हैं ।।१५२।।

(४) यथा – हे सुन्दरी के प्रेमी राजा ! इस मालती (नायिका) के हृदय पर फूल के धनुष-वाण वाले कामदेव ने सर्वप्रथम अधिकार जमाया और अन्त में उसकी निगाह के विषय होने वाला तूने अधिकार जमाया ।

रमणी का वल्लभ कोई राजा था, मालती नायिका थी । मालती के निगाहों पर पड़ना कारण है और कामदेव का हृदय पर अधिकार जमाना कार्य है । यहाँ प्रेमी राजा के दर्शन से शीघ्र हृदय का हरण होना प्रतीत होता है ।

१३ - प्रतिवस्तूपमा

प्रतिवस्तूपमा तत्र उपमानोपमेययोः ।
वाक्यद्वये द्वयं यत्र धर्मस्यैकस्य वाचकम् ।।१५३।।
प्रतिवस्तूपमा द्वेधाऽमालामालास्वरूपतः ।।१५४।।

(१) तत्राद्या यथा—

धन्यासि वैदर्भि ! गुणैरुदारै-
र्यया समाकृष्यत नैषधोऽपि ।
इतः स्तुतिः का खलु चन्द्रिकाया
यदब्धिमप्युत्तरलीकरोति ।। (१२२) ।

[सा० द० – १०, ४९]

अत्र समाकर्षणमुत्तरलीकरणञ्च क्रिया एकैव, पौनरुक्त्य-भयाद् विभिन्नशब्देन निर्देशः ।

(२) अन्त्या यथा—

यदि दहत्यनिलोऽत्र किमद्भुतं
यदि च गौरवमद्रिषु तत् किमु ।
लवणमम्बु सदैव महोदधेः
प्रकृतिरेव सतामविषादिता ॥ (१२३) ।

[का० प्र० – ४५४]

सतामविषादिता प्रकृतिरेवेत्यन्वयः । अत्र सद्वृत्तिविषाद-शून्यत्वम् उपमेयम्, अनलकर्तृकदहनादिकमुपमानम् । प्रकृति-रेवेत्यनेन स्वाभाविकत्वरूपसाधारणो धर्म उक्तः । किमद्भुत-मित्यनेन अद्भुतत्वाभावः प्रतिपाद्यते । स चागन्तुकत्वाभावः, स्वाभाविकत्वमिति यावत् । किमद्भुतादिपदस्य वाक्यचतुष्ट-येऽप्युपादानान्मालारूपा ।

प्रतिवस्तूपमा

प्रतिवस्तूपमा अलंकार वहाँ होता है जहाँ उपमान और उपमेय के दो वाक्यों में किसी एक ही धर्म के वाचक दो शब्द हों ॥१५३॥

अमाला और माला के भेद से प्रतिवस्तूपमा दो प्रकार की होती है ॥१५४॥

(१) उनमें पहली अमाला, यथा—

हे विदर्भ की राजकुमारी दमयन्ती ! तू धन्य हो जो अपने प्रशस्त गुणों के द्वारा नैषध (नल) को भी आकृष्ट कर लिया है। उस चांदनी की इससे बढ़कर क्या स्तुति हो सकती है कि वह समुद्र को भी उछाल करा देती है।

यहाँ समाकर्षण और उत्तरलीकरण दोनों क्रियायें एक ही हैं, पुनरुक्तित्व दोष के भय से भिन्न-भिन्न शब्द से निर्देश है।

(२) अन्तिम, माला का उदाहरण—

यदि अग्नि जलाता है तो इसमें क्या आश्चर्य है ? यदि पर्वत में गुरुता (भारीपन या विशालता) है तो क्या आश्चर्य है ? क्योंकि समुद्र का जल सदा खारा होता है और सज्जनों का स्वभाव ही विषाद न करने का होता है।

यहाँ सज्जनों के स्वभाव का विषादशून्य होना उपमेय, आग के द्वारा जलाना उपमान है। स्वभाव ही है (प्रकृतिरेव) से स्वाभाविकत्वरूप साधारण धर्मकहा गया। किमद्भुतम् से अद्भुतत्वाभाव जनाया गया है। और वह नवीन बात आने का अभाव स्वाभाविक सूचित करता है। 'किमद्भुतम्' इत्यादि पद का चारों वाक्यों में रहने के कारण यहाँ मालारूप प्रतिवस्तूपमा है।

१४ - दृष्टान्तः

साद‍ृश्यं धर्मयोरेवमुपमानोपमेययोः ।
साद‍ृश्यं प्रणिधानेन गम्यं दृष्टान्त उच्यते ॥१५५॥

(१) यथा –

त्वयि दृष्ट एव तस्या निर्वाति मनोभवज्वलितम् ।
आलोके हि हिमांशो र्विकसति[1] कुमुदं कुमुद्वत्यः ॥ (१२४)

[का० प्र० – ४५५]

त्वयि दृष्ट एव दृष्टमात्रे तस्या मालविकायाः। आलोके प्रकाशे। अत्रोपमेयोपमानयो र्नृपतिचन्द्रयोः [2]स्फीतत्वप्रापकत्वेन तत्साधारणधर्मयो र्दर्शनालोकयोरेवमुपमेयोपमानयो र्मालविका-कुमुद्वत्योः स्फीतत्वप्रापकत्वेन तत्साधारणधर्मयो र्मानसमनोभव-ज्वलितनिर्वाण-कुमुदप्रकाशयोः, एवमुपमानोपमेययोः मनःकुमुदयोः स्फीतत्वप्रापकत्वेन तत्साधारणधर्मयो र्मनोभवज्वलितनिर्वाणप्रकाशयो र्दृष्टान्त-दर्ष्टान्तिकभावेन साद‍ृश्यमवगम्यते, नीलघटपीत-घटयो रूपवत्त्वादिवत् । उपमानोपमेयानां स्फीतत्वप्रापकधर्मवत्त्वं

---

1 – 'विकसित' – मूलपाठः। ·कुसुमं, – का० प्र०।
2 – 'स्फीतः' — मूलपाठः।

नीलपीतयो रूपत्ववत् । साधारणधर्मयोः स्फीतत्वप्रापकत्वं सादृश्यघटकं प्रकृत इतिभावः । परन्तु तेषां साधारणधर्मतया ते न भासन्ते दृष्टान्त-दार्ष्टान्तिकभावरूपप्रणिधानवशात् । निर्वाण-विकासाभ्यां स्फीतत्वे लब्धे सादृश्यं प्रतीयते । अतः प्रणिधानगम्यं सादृश्यम् ।

यथा वा—

अविदितगुणापि सत्कविभणितिः
कर्णेषु वमति मधुधाराम् ।
अनधिगतपरिमलापि हि
हरति दृशं मालतीमाला ।। (१२५) ।

[सा० द० – १०, ५०]

अत्र यद्यपि विजातीयसुखजनकत्वेन न साधारणधर्माविुक्तौ, तदाप्यर्थादवगम्यते तत् । तथा च विजातीयसुखजनकत्वमादाय उपमानोपमेययो र्भणितिमालयो र्विजातीयसुखजनकत्वमादाय च मधुधारावमन-नेत्रहरणयोः सादृश्यं दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकभावगम्यम् ।

दृष्टान्त अलंकार

दो साधारण धर्मों का सादृश्य एवं दो उपमानों और उपमेयों का सादृश्य यदि अर्थगम्य (ध्यानपूर्वक बोध्य, न कि शब्दगम्य) रहे तो वहाँ दृष्टान्त अलंकार होता है ।।१५५।।

(१) साधर्म्यमूलक दृष्टान्त का उदारहण –

तुम्हें देख लेने से ही उस सुन्दरी की कामज्वाला शान्त हो जाती है। चन्द्र के प्रकाशमात्र से कुमुदिनी के फूल खिल जाते हैं ।।

तुम्हारे देखे जाने से ही उस मालविका नाम की नायिका की कामज्वाला बुझ जाती है। आलोके का अर्थ है प्रकाश में। यहाँ उपमान और उपमेय स्वरूप राजा और चन्द्र के स्पष्ट प्राप्तव्य होने से उनके साधारण धर्म दर्शन

और आलोक में तथा उपमेय और उपमान स्वरूप मालविका और कुमुदिनी के स्पष्ट प्राप्य होने से उसके साधारण धर्म मानसमनोभवज्वलितनिर्वाण और कुमुद प्रकाश में एवं उपमानोपमेय स्वरूप मन और कुमुद के स्फीतत्व-प्रापकत्व होने से उनके साधारण धर्म मनोभवज्वलितनिर्वाण और प्रकाश में दृष्टान्त-दार्ष्टान्तिकभाव से सादृश्य जाना जाता है जैसे कि नीलघट और पीतघट में रूपवत्त्व का भान हो जाता है। उपमान और उपमेयों के स्फीतत्व और प्रापकत्व धर्मवत्ता उसी प्रकार है जैसे कि नील एवं पीत में रूपवत्व का लाभ होता है। साधारण धर्मों में स्फीतत्व और प्रापकत्व प्रकृत में सादृश्य घटक हैं यही आशय है। परन्तु उनके साधारण धर्म होने से वे भासमान नहीं हैं क्योंकि उनके दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिकभाव रूप अर्थ ध्यानगम्य (अर्थगम्य) हैं। निर्वाण (शान्त) और विकास के द्वारा स्फीतत्व के लाभ होने पर सादृश्य की प्रतीति होती है। अतः प्रणिधान (अर्थानुसन्धान) से ही सादृश्य बोध्य है। इसका दूसरा उदाहरण—

सत्कवियों की उक्ति गुण जाने विना भी कानों में मधु की धारा वहा देती है, क्योंकि सुगन्धि पाये विना भी मालतीमाला आँखों को हर लेती है ।। (१२५)।

यहाँ यद्यपि विजातीय वस्तु के सुखदायक होने से साधारण धर्म नहीं कहे गये हैं, फिर भी अर्थतः उसका लाभ होता ही है। इक प्रकार विजातीय-सुखजनकवत्ता को लेकर उपमान और उपमेय भणिति (कथन) और माला में विजातीय-सुखजनकत्व को लेकर मधुधारा देना और नेत्र हरण करना में सादृश्य दृष्टान्त-दार्ष्टान्तिकभाव से गम्य (अर्थतः प्राप्य) है। दृष्टान्त-दार्ष्टान्तिक से विम्बप्रतिविम्बभाव समझना चाहिए।

विरुद्धधर्मयोरेवमुपमानोपमेययोः ।
सादृश्यं प्रणिधानस्य गम्यं दृष्टान्त एव हि ।।१५६।।

(२) यथा—

तवाहवे साहसकर्मशर्मणः
पाणिं कृपाणान्तिकमानिनीषतः ।

भटाः परेषां विशरारुतामगु-
र्दधत्यवाते स्थिरतां हि पांसवः ।। (१२६) ।

[का॰ प्र॰ – ४५६]

विसरारुता संग्रामभूमेरपसरणम् । अत्रावाते स्थिरता, वाते तु न तथेति विपर्यये साधर्म्यपर्यवसानम् । सकलदिक्संयोगानुकूल-क्रिया स्थिरता च क्रियाशून्यत्वं निष्पन्दत्वम् । यो यः स्थितः स न विसरारुः । यथा निर्वातकालीनः पांशुर्व्यतिरेके दृष्टान्तः ।

विरुद्धधर्मवाले ही उपमानों और उपमेयों में सादृश्य यदि अर्थगम्य हो तो वहाँ भी दृष्टान्तालंकार ही होता है ।।१५६।।

(२) वैधर्म्यमूलक दृष्टान्त का उदाहरण—

साहस करने में दक्ष आप के द्वारा युद्धभूमि में अपने हाथ को तलवार के समीप ले जाने की इच्छामात्र से शत्रुदल के योद्धालोग वहाँ से खिसकने लगे क्योंकि धूलि निर्वात काल में ही स्थिर रह सकतीं हैं ।। (१२६) ।

विसरारुता का तात्पर्य है संग्रामभूमि से भाग जाने से । यहाँ हवा न वहने पर स्थिरता और हवा वहने पर वैसा नहीं होना इस विपरीत दृष्टान्त में साधर्म्य का पर्यवसान (परिणति) होता है । स्थिरता वह है जो सभी दिशाओं से समान संयोग के अनुकूल व्यापार हो, अर्थात् क्रियाशून्न, निष्पन्द रहे । जो जो स्थिर रहे वह विसरारु नहीं हो सकता, जैसे निर्वातकालीन धूलि प्रस्तुत योद्धाओं की विसरारुता में विपरीत दृष्टान्त है ।

१५ - दीपकम्

सकृदेवाभिधानं चेदुपमानोपमेययोः ।
धर्मिणो धर्मरूपायाः क्रियाया दीपकं स्मृतम् ।।१५७।।

(१) यथा—

किबणाणं धणं, णाआणं फणमणी, केसराइँ सीहाणं ।
कुलबालिआणं त्थणआ, कुदो पिच्छन्ति अमुआणं ॥ (१२७)

[का० प्र० – ४५७]

[कृपणानां धनं नागानां फणमणिः केसराणि सिंहानाम् ।
कुलपालिकानां स्तनाः कुतः स्पृश्यन्तेऽमृतानाम् ॥]

अत्र कुलपालिकानां प्रकृतत्वेनोपमेयता । अन्येषामप्रकृतत्वेनोपमानता । स्पृश्यन्त इति क्रिया सकृदुपात्ता ।

यथा वा—

बलावलेपादधुनापि पूर्ववत्
प्रबाध्यते तेन जगज्जिगीषुणा ।
सती च योषित् प्रकृतिश्च निश्चला
पुमांसमभ्येति युगान्तरेष्वपि ॥ (१२८)

[सा० द० – १०, ४६]

अत्र प्रस्तुताया निश्चलायाः प्रकृतेरप्रस्तुतायाः सत्या एकार्थगमनक्रिया सम्बन्धः ।

सकृदेवाभिधानं स्यात् कारकस्य च यत् पुनः ।
बह्वीषु च क्रियास्वेतत् कारकं दीपकं स्मृतम् ॥१५८॥

(२) यथा—

स्विद्यति कूणति वेल्लति विचलति निमिषति विलोकयति तिर्यक् ।
अन्त र्नन्दति चुम्बितुमिच्छति नवपरिणया वधूः शयने ॥ (१२९)

[का० प्र० – ४५८]

स्विद्यति सात्त्विकभावमावहति । कूणति अङ्गेषु सङ्कोचमावहति । अत एव वेल्लति असम्मतया अङ्गचालनं करोति ।

विचलति परिवृत्य शेते । निमिषति आहार्यनिद्रया नेत्रे मुद्रयति । नायकवैमुख्यसम्भावनातो भयात् तिर्यग् विलोकनम् । हर्षादन्तर्नन्दतीति, एकस्या नायिकायाः कर्तृरूपकारकभूतायाः सम्बन्धात् सर्वक्रियादीपनाद् दीपकम् ।

पूर्वपूर्वतरैरर्थैरर्थश्चेदुत्तरोत्तरः ।
क्रियते क्रियया युक्तो मालादीपकमुच्यते ॥१५६॥

(३) यथा—

संग्रामाङ्गणमागतेन भवता चापे समारोपिते
देवाकर्णय येन येन सहसा यत् यत् समासादितम् ।
कोदण्डेन शराः, शरैररिशिरस्तेनापि भूमण्डलं
तेन त्वं, भवता च कीर्तिरतुला, कीर्त्या च लोकत्रयम् ॥ (१३०)

[का० प्र० – ४५६]

मालायां पूर्वपूर्वग्रथित पुष्पेणोत्तरोत्तरस्य धारणादुपकारकत्वम् । तद्वदत्रापि मालारूपता एकस्या आसादनक्रियायाः सर्वसम्बन्धाद् दीपकता ।

दीपक

जिसमें धर्मवान् उपमान और उपमेय के धर्मरूप क्रिया का एक बार ही कथन हो वह दीपक (क्रियादीपक) अलंकार कहलाता है ॥१५७॥

(१) क्रियादीपक का उदाहरण—

कृपणों का धन, नागों के फणास्थित मणि, सिंहों के केसर (जटा) और कुलवधुओं के स्तन जीते जी कैसे हाथ लगाये जा सकते हैं ? ॥ (१२७) ।

यहाँ कुलवधुओं का प्रकृत होने से उपमेयत्व है। इससे भिन्न कृपणादिकों के अप्रकृत होने से उपमानता है। 'स्पृश्यन्ते' यह क्रिया एक ही बार सबों के लिये कही गयी है।

इसका दूसरा उदाहरण—

संसार को जीतने की इच्छावाले उस शिशुपाल ने पूर्वजन्म की भाँति ही अभी भी बल के घमण्ड से संसार को सता रहा है। सती स्त्री और निश्चल स्वभाव जन्मान्तर में भी परुष के साथ रहते हैं ॥ (१२८)।

यहाँ प्रस्तुत निश्चल प्रकृति का अप्रस्तुत सती के साथ एकार्थगमन क्रिया के साथ सम्बन्ध है।

जहाँ कारक का कथन एक ही बार हो और वह बहुतों क्रियाओं में अन्वित हो तो वहाँ कारक दीपक होता है ॥१५८॥

(२) कारकदीपक का उदाहरण—

नवीन व्याही वधू शयन पर पसीने-पसीने होती हैं, पति की गोद में लज्जा का अनुभव करती है, मुँह फेर लेती है, करवट फेर लेती है, भय से तिरछी नजर से देखती है, आँखें मूँद लेती है, हृदय से प्रसन्न होती है और चुम्बन करना चाहती है ॥ (१२९)।

यहाँ एक ही नायिका रूप कर्त्ता - कारक से सम्बन्ध के कारण सभी क्रियायें प्रकाशित हैं। अतः कारक दीपक अलंकार हुआ।

पूर्व पूर्व अर्थ से उत्तर उत्तर अर्थ यदि क्रिया से युक्त हो तो उसे मालादीपक कहते हैं ॥१५९॥

(३) मालादीपक का उदाहरण—

हे राजन् ! संग्रामभूमि में आकर आपने जब धनुष पर बाण चढ़ाया तो एकाएक जिस-जिस व्यक्ति ने जो जो पाया उसे आप सुनें धनुष ने बाण पाया, बाण ने शत्रुओं का शिर पाया, शिर ने पृथ्वीमण्डल पाया, पृथ्वीमण्डल ने आपको पाया, आपने अतुलनीय यश को पाया और यश ने तीनों लोकों को पाया।

माला में पूर्व पूर्व गुँथे फूल से उत्तरोत्तर के सम्बन्ध से उपकारकत्व है। उसी प्रकार यहाँ भी माला बनी हुई है क्योंकि एक ही आसादन (प्राप्ति) क्रिया के द्वारा सभी के सम्बन्ध होने से दीपक है।

१६ - तुल्ययोगिता

प्रस्तुतेषु च धर्मेषु धर्म एको यदान्वयी ।
तदा तत्र परिज्ञेया प्रथमा तुल्ययोगिता ॥१६०॥

(१) यथा—

पाण्डुक्षामं वदनं सरसं हृदयं तवालसं च वपुः ।
आवेदयति नितान्तं क्षेत्रियरोगं सखि ! हृदन्तः ॥ (१३१)
[का० प्र० – ४६०]

प्रकरणप्राप्ता नायिका, तस्या विप्रलम्भानुभावकत्वेन प्रकरणनियतानां पाण्डुत्वादियुक्तानां वदनादीनाम् । क्षेत्रिय-रोगपदवाच्यो यो विप्रलम्भरूपः श्रृङ्गारः रोगश्च, तयोरावेदन-क्रियारूपैकधर्मान्वयः । अत्र श्रृङ्गाररोगयोः साम्यं विवक्षितम् । क्षेत्रियत्वं साधारणो धर्मः । क्षेत्रियरोगयोरावेदनं वेदनादीनां साधारणो धर्मः ।

अत्र प्रकृतानां बिरहिणीवदनादीनामेव धर्मत्वेन वेदनाख्यो धर्म उपात्तः, न तूपमानरोगधर्मतया ।

अप्राकरणिके धर्मे चैको धर्मो यदान्वयी ।
तदा तत्र परिज्ञेया द्वितीया तुल्ययोगिता ॥१६१॥

(२) यथा—

कुमुदकमलनीलनीरजालि-
र्ललितविलासजुषो दृशोः पुरः का ।
अमृतममृतजन्मरश्मिरम्बुजन्म
प्रतिहृतमेकपदे तवाननस्य ॥ (१३२)
[का० प्र० – ४६१]

अत्र कामिनी-लोचनयोः प्राकरणिकत्वेन अप्राकरणिक-[त्वेन] कुमुदादीनां केतिपदेनोक्तञ्च निकृष्टत्वं साधारणो धर्मः। पर्यवसानमौपम्य एव ।

तुल्ययोगिता

प्रस्तुत धर्मों में केवल एक ही धर्म जब अन्वित हों तो वहाँ पहली तुल्ययोगिता होती है ।।१६०।।

(१) यथा –

हे सखि ! तुम्हारा यह पीला दुर्बल मुख, सरस हृदय और अलसाया हुआ देह अवश्य ही तुम्हारे हृदय के असाध्य (प्रेम) रोग को बतला रहे हैं ।। (१३१) ।

यहाँ प्रकरणप्राप्त नायिका है, उसके वियोग को दर्शानेवाले प्रकरण-नियत हैं पाण्डुत्वादियुक्त वदन आदि । क्षेत्रिय (शारीरिक) रोग पद के अर्थ हैं विप्रलम्भ शृङ्गार और रोग, उनके आवेदन-क्रिया-रूप एक ही धर्म का अन्वय है। यहाँ शृङ्गार और रोग में समानता विवक्षित है। क्षेत्रियत्व साधारण धर्म है। यहाँ प्रकृत विरहिणी-वदनादि के धर्म होने के कारण वेदना रूप धर्म कहा गया है, न कि उपमान स्वरूप रोग के धर्म रूप से ।

अप्राकरणिक (अप्रस्तुत उपमान रूप) धर्मों में यदि एक ही धर्म अन्वित हो, तो वहाँ दूसरी तुल्ययोगिता होती है ।।१६१।।

(२) यथा—

हे सुन्दरि ! तेरे मनोरम हाव-भावभरी आँखों के आगे कुमुद, कमल और नीलोत्पल क्या हैं ? और तेरे वदन के आगे अमृत और चन्द्रमा तो एक साथ ही हार गये ।। (१३२) ।

वहाँ कामिनी की आँखें प्राकरणिक हैं और कुमुद आदि अप्राकरणिक हैं। यहाँ 'का' इस पद से अप्राकरणिकों का ही सम्बन्ध है जिससे न्यूनता रूप साधारण धर्म जाना जाता है। औपम्य में ही अर्थ की विश्रान्ति हो रही है।

तुल्ययोगिता में यह ध्यान देने योग्य है कि किसी एक धर्म का अन्वय चाहे तो प्रकृत धर्मियों से ही हो या अप्रकृत धर्मियों से ही। दोनों से अन्वय होनो पर तो दीपक का प्रथम प्रकार ही हो जायगा ।

१७ – व्यतिरेकः

आधिक्यमुपमानाद् यदुपमेयस्य कथ्यते ।
तदेव व्यतिरेकाख्यालङ्कृतिः समुदाहृता ॥१६२॥
हेतूक्तिसहितस्त्वेको हेत्वनुक्तियुतः परः ।
द्विविधो व्यतिरेकोऽयं तयोरपि भिदाः कति ॥१६३॥
उपमेयगतोत्कर्षो निक-[र्ष उपमा-]नगः ।
हेतू तद्व्यञ्जकौ यत्र व्यतिरेकः स आदिमः ॥१६४॥
हेतूक्तिसहितश्चायं त्रिविधः परिकीर्त्तितः ।
शाब्दे आर्थे तथाक्षिप्ते सादृश्ये सति जायते ॥१६५॥
शाब्दसादृश्यगश्चायं हेतूक्तिसहितः पुनः ।
द्विविधो व्यतिरेकाख्योऽश्लेष-श्लेषकृतो मतः ॥१६६॥

(१) हेतूक्तिसहित-शाब्दसादृश्येऽश्लेषे व्यतिको यथा—

असिमात्रसहायस्य प्रभूतारिपराभवे ।
अन्यतुच्छजनस्येव न स्मयोऽस्य महाधृतेः ॥ (१३३) ।
[का० प्र० – ४६३]

उपमेयो योद्धा, उपमानम् अन्यो जनः, उपमेयोत्कर्षहेतुः महाधृतित्वम्, उपमानापकर्षहेतुः तुच्छत्वम्, इवशब्देनोपात्तं सादृश्यं शाब्दं, श्लेषविरहश्च ।

व्यतिरेक

जो उपमान से उपमेय की अधिकता (उत्कर्ष) कही जाय, वही व्यतिरेक अलंकार कहा गया है ॥१६२॥

पहला व्यतिरेक वह है जो हेतु के कथन-सहित हो और दूसरा है हेतु के

कथन के विना ही रहनेवाला। इस प्रकार पहले तो व्यतिरेक अलंकार दो प्रकार का है। इन दोनों के भी कितने ही भेद हो जाते हैं ॥१६३॥

उपमेयगत उत्कर्ष और उपमानगत अपकर्ष रूप उनके दो हेतु ही सादृश्य व्यञ्जक हों तो वहाँ पहला व्यतिरेक होता है ॥१६४॥

हेतु की उक्ति से युक्त यह भेद तीन प्रकार का कहा गया है। ये तीनों भेद शाब्द, आर्थ और आक्षिप्त में सादृश्य रहने पर होते हैं ॥१६५॥

इनमें शाब्दसादृश्यवाला भेद जो हेतु की उक्ति के सहित है, दो प्रकार का है अश्लेषगत और श्लेषगत ॥१६६॥

(१) हेतूक्तिसहित शाब्दसादृश्यगत अश्लेष वाला व्यतिरेक का उदाहरण –

महान् धैर्यशाली तथा खड्गमात्र सहायवाले इस राजा ने पर्याप्त शत्रुओं को हराने के समय अन्य तुच्छ राजा के समान गर्व नहीं किया ॥ (१३३)।

यहाँ उपमेय योद्धा है, उपमान अन्यजन, उपमेय में उत्कर्ष का हेतु महाधृतित्व, उपमान में अपकर्ष का हेतु तुच्छत्व, इवशब्द से कथित सादृश्य शब्दतः प्रतिपदित और श्लेष का अभाव है।

(२) द्वितीयो यथा—

जितेन्द्रियतया सम्यग् विद्यावृद्धनिषेविणः।
अतिगाढगुणस्यास्य नाब्जवद् भङ्गुरा गुणाः ॥ (१३४)
[का० प्र० – ४६६]

अत्रोपमेयोपमानयो गुणयोरुत्कर्षापकर्षहेतू अतिगाढत्वभङ्गुरत्वे, "तस्य इवे"त्यनेन विहित इवार्थे वतिरतः शाब्दं सादृश्यं, गुणशब्दस्य श्लिष्टत्वञ्च।

अर्थसादृश्यगश्चायं हेतूक्तिसहितः पुनः।
द्विविधो व्यतिरेको हि श्लेषाश्लेषकृतस्तथा ॥१६७॥

(३) यथा—

असिमात्रसहायोऽपि[1] प्रभूतारिपराभवे ।
नैवान्यतुच्छजनवत् सगर्वोऽयं धृते निधिः[2] ॥ (१३५)
[का० प्र० – ४६४]

अत्र तुल्यार्थे वतिः, अत आर्थी । अन्यत् सर्वं पूर्ववदनुसन्धेयम् ।

(४) द्वितीयो यथा –

अखण्डमण्डलः श्रीमान् पश्यैष पृथिवीपतिः ।
न निशाकरवज्जातु कलावैकल्यमागतः ॥ (१३६)
[का० प्र० – ४६७]

अत्र कलावैकल्याभाव-कलावैकल्ये हेतू पृथिवीपतिरुपमेयः, निशाकर उपमानं, तुल्यार्थे वतिः ।

(२) हेतूक्तिसहित शाब्दसादृश्यगत श्लेषवाला व्यतिरेक के दूसरे भेद का उदाहरण—

जितेन्द्रिय रहने के कारण महान् विद्वानों की सेवा में लगे अत्यन्त प्रबल गुणों (वैदुष्यादि) से युक्त इस राजा के गुण (दया दाक्षिण्यादि. कमल पक्ष में सूत्र) कमल को भाँति टूटने वाले नहीं हैं ॥ (१३४) ।

यहाँ उपमेय और उपमान के गुणों के उत्कर्ष और अपकर्ष का कारण अतिदृढ़ होना तथा भङ्गुर होना है । "तस्य इव" इस सूत्र के द्वारा विहित वतिप्रत्यय इव के अर्थ में है, अतः शब्दप्रतिपादित सादृश्य है । गुण शब्द में श्लेष है ।

अर्थप्रतिपादित सादृश्यवाला हेतूक्तिसहित यह व्यतिरेक श्लेषगत और अश्लेषगत के भेद से दो प्रकार का कहा गया है ॥१६७॥

(३) आर्थ सादृश्यगत हेतूक्तिसहित अश्लिष्ट व्यतिरेक का उदाहरण –

---

1 – 'सहायस्य' — मूलपाठः । 2 – महानिधिः ।

धैर्य का समुद्र तथा खड्गमात्र सहायवाला यह राजा प्रचुर शत्रु के परास्त करने पर भी दूसरे तुच्छ लोगों के समान गर्वयुक्त नहीं हुआ ।। (१३५)

यहाँ तुल्य अर्थ में वतिप्रत्यय होने से आर्थी का उदाहरण हुआ। अन्य सब कुछ पूर्वप्रदर्शित उदाहरण (१३३ संख्यक) के समान ही हैं।

(४) आर्थ सादृश्यगत हेतूक्तिसहित श्लिष्ट का उदाहरण—

यह देखें कि अखण्डमण्डल (राजमण्डल से परिपूर्ण या सोलह कला से युक्त) श्रीमान् (राज्य श्री से युक्त या शोभाशाली) यह राजा कभी भी चन्द्रमा के समान कलाहीन (ललितकला से रहित या सोलह कलाओं से हीन) नहीं होता है ।। (१३६) ।

यहाँ कलावैकल्याभाव तथा कलावैकल्य हेतु हैं, पृथिवीपति उपमेय है, निशाकर उपमान है तथा तुल्य अर्थ में वतिप्रत्यय है।

आक्षेपगम्यसादृश्ये हेतूक्तिसहितः पुनः ।
द्विविधो व्यतिरेकाख्योऽश्लेष श्लेषकृतो मतः ।।१६८।।

(५) अत्राद्यो यथा—

इयं सुनयना दासी-कृततामरसश्रिया ।
आननेनाकलङ्केन जयतीन्दुं कलङ्किनम् ।। (१३७) ।
[का० प्र० – ४६५]

कलङ्कित्वाकलङ्कित्वे हेतू । इवादीनां तुल्यादीनामभावादाक्षेपः सादृश्यस्य ।

(६) द्वितीयो यथा—

नित्योदितप्रतापेन त्रियामामीलितप्रभः ।
भास्वतानेन भूपेन भास्वानेष विनिर्जितः ।। (१३८) ।
[का० प्र० – ४६६]

अत्र नित्योदितप्रतापत्व-त्रियामामीलितप्रभत्वे हेतू, भास्वतेति प्रतापेनेति श्लिष्टं पदम्, इव-तुल्यादेरभावादाक्षेपः । न च

निर्जितशब्द एवास्तीति वाच्यम् स्थलान्तरे दृष्टान्तस्य सम्भवात्।
यथा—

स्वच्छात्मतागुणसमुल्लसितेन्दुविम्बं
विम्बप्रभाधरमकृत्रिमहृद्यगन्धम् ।
यूनामतीव पिबतां रजनीषु यत्र
तृष्णां जहार मधुनाननमङ्गनानाम् ॥ (१३९)।

[का० प्र० – ४७०]

यत्र पुरे रजनीषु पिबतां यूनां तृष्णां मधु जहार, अङ्गनानामाननं न जहार। यूनो मधुपाने गततृष्णा बभूवुः, न त्वङ्गनाववदनपान इत्यर्थः। मध्वाननयो विशेषणान्याह स्वच्छेत्यादिना। स्वच्छता स्निग्धता सैव गुण उत्कर्षः। तेन समुल्लसितं प्रतिविम्बितमिन्दुविम्बं यत्र तादृशं मधु। आननन्तु स्वच्छस्वभावधर्मेण गुणेनोल्लसितेन्दुमण्डलमिव। विम्बस्य प्रतिविम्बस्य प्रभाधरं मधु, विम्बफलविशेषस्य प्रभा तेन विम्बप्रभोऽधरोयत्रेति। अकृत्रिमो-हृद्यगन्धो यत्र, वदनपक्षे अकृत्रिमं मुखवासनादिकं विना। अत्र श्लिष्टविशेषणेनैवोपमाक्षेपः। मधुवदनयोस्तृष्णाहरण-तृष्णाहरणाभावौ हेतू।

आक्षेप के द्वारा लभ्य सादृश्यवाला हेतूक्तिसहित व्यतिरेक भी दो प्रकार का है— अश्लेषकृत एवं श्लेषकृत ॥१६८॥

(५) उनमें प्रथम यथा—

यह सुन्दर आँखवाली नायिका कमल की शोभा को भी दासी बनानेवाले अपने अकलङ्कित मुख से कलङ्की चन्द्र को जीत लेती है ॥ (१३७)।

कलङ्कित्व और अकलङ्कित्व हेतु हैं। इव आदि या तुल्य आदि शब्दों के अभाव में सादृश्य का आक्षेप है।

(६) दूसरे का उदाहरण —

प्रतिदिन पराक्रम या प्रखर ताप का उदय पानेवाला तेजस्वी या सूर्य-स्वरूप इस राजा ने इस सूर्य को जीत लिया जिसकी प्रभा रात्रि में समाप्त रहा करती है।

यहाँ नित्योदितप्रतापत्व और त्रियामामीलितत्व हेतु है, भास्वता और प्रतापेन श्लिष्ट पद है। इव तुल्य आदि के अभाव में सादृश्य आक्षेपलभ्य हैं। निर्जित शब्द के द्वारा सादृश्य बोधित होने से अक्षिप्त नहीं है ऐसा नहीं कहा जा सकता क्योंकि अन्य स्थल में इसका दृष्टान्त सम्भव है। यथा —

जिस नगर में रातों को पानक्रीड़ारत प्रेमी युवकों की तृष्णा (पान-लालसा) को अपनी स्निग्धता गुण के उत्कर्ष से समुल्लसित एवं प्रतिविम्बित चन्द्रमण्डल से युक्त तथा प्रतिविम्बित प्रभा को धारण करनेवाले तथा स्वा-भाविक सुन्दर मद्यगन्धयुक्त वसन्त ऋतु ने हरण (दूर) किया, न कि युवतियों के मुख, जो स्वच्छ-स्वभाव धैर्य गुण से उल्लसित चन्द्रमण्डल के समान है, विम्बफल की प्रभा (लाली) को धारण करने वाले अधर से युक्त है तथा अकृत्रिम अर्थात् मुखसुगन्धिचूर्ण के विना ही मनोरम सुगन्धि से युक्त है ।। (१३६)।

यहाँ श्लिष्टविशेषणों के द्वारा ही उपमा का आक्षेप हो जाता है। मधु (वसन्त) और वदन के तृष्णाहरण और तृष्णाहरणाभाव हेतु हैं।

एवं हेतूक्तिसहितः षड्विधः परिकीर्त्तितः ।
हेत्वनुक्तियुतश्चाथ व्यतिरेको विविच्यते ।।१६९।।

उपमाननिकर्षस्य हेतोरुक्तौ यदा पुनः ।
उपमेयोत्कर्षहेतोरनुक्तिः प्रथमा स्मृता ।।१७०।।

उपमेयोत्कर्षहेतोरनुक्तिसहितस्त्रिधा ।
शाब्दे आर्थे तथाक्षिप्ते सादृश्ये सति जायते ।।१७१।।

शाब्दसादृश्यगश्चाय श्लेषाश्लेषकृतो द्विधा ।
उपमेयोत्कर्षहेतोरनुक्तिसहितो मतः ।।१७२।।

आर्थसादृश्यगश्चायं श्लेषाश्लेषकृतो द्विधा ।
उपमेयोत्कर्षहेतोरनुक्तिसहितो मतः ।।१७३।।

आक्षिप्तसादृश्यगतःश्लेषाश्लेषकृतो द्विधा ।
उपमेयोत्कर्षहेतोरनुक्तिसहितो मतः ॥१७४॥
उपमेयोत्कर्षहेतोरनुक्तिसहितो हि यः ।
स एवं व्यतिरेकाख्यः षड्विधः परिकीर्त्तितः ॥१७५॥

इस तरह हेतूक्तिसहित व्यतिरेक छः प्रकार का कहा गया। अब हेतु की उक्ति से रहित व्यतिरेक का विवेचन किया जा रहा है ॥१६६॥

जब उपमान की न्यूनता के हेतु का कथन हो, पर उपमेयगत उत्कर्ष के हेतु का कथन न हो तो वहाँ पहला हेतूक्तिरहित व्यतिरेक होता है ॥१७०॥

उपमेयगत उत्कर्षहेत्वनुक्तिवाला व्यतिरेक तीन प्रकार का है — शाब्द, आर्थ और आक्षिप्त सादृश्यवाला ॥१७१॥

शाब्द सादृश्यगत यह श्लेषकृत और अश्लेषकृत भेद से दो प्रकार का है जो उपमेयगत उत्कर्ष हेतु की अनुक्तिवाला होता है ॥१७२॥

उपमेयगत उत्कर्षहेत्वनुक्तियुक्त आर्थसादृश्यगत भी यह श्लेषगत और अश्लेषगत के भेद से दो प्रकार का है ॥१७३॥

उपमेयगत उत्कर्षहेत्वनुक्तियुक्त आक्षिप्तसादृश्यगत भी यह श्लेषगत और अश्लेषगत के भेद से दो प्रकार का है ॥१७४॥

इस तरह उपमेयगत उत्कर्ष हेतु की अनुक्तिवाला व्यतिरेक छः प्रकार का हो जाता है ॥१७५॥

[इन छः भेदों के उदाहरण भी पूर्वोक्त उदाहरणों में कुछ परिवर्त्तन से प्राप्त हो जाते हैं।] यथा—

(१) उपमेयगत उत्कर्ष के हेतु की अनुक्तिवाला शाब्द अश्लिष्ट—

अन्यतुच्छजनस्येव न स्मयोऽस्य महीपतेः ।

(पूर्व प्रदर्शित उदाहरण सं० – १३३)

(२) शाब्द श्लिष्ट —

सत्कर्मनिरतस्यास्य नाब्जवद् भंगुरा गुणाः ।

(पू० प्र० उ० सं० – १३४)

(३) आर्थ अश्लिष्ट —

नैवान्यतुच्छजनवत् सगर्वोऽयं महीपतिः । (उ० – १३५)।

(४) आर्थ श्लिष्ट—

बहुलारिगतोऽप्येष श्रीमानुद्धृतविक्रमः । (उ० – १३६)।

(५) आक्षिप्त अश्लिष्ट –

आननेन मनोज्ञन जयतीन्दुं कलङ्किनम् । (उ० – १३७)।

(६) आक्षिप्त श्लिष्ट —

समरासक्तमनसा त्रियामामीलितप्रभः । (उ० – १३८)।

उत्कर्षस्योपमानस्य हेतावुक्ते प्रजायते ।

उपमाननिकर्षस्य [हेत्वनुक्तौ पुनश्च षट्] ॥१७६॥

इसी प्रकार उपमानगत उत्कर्ष के हेतु की उक्ति में भी व्यतिरेक होता है। उपमानगत अपकर्ष के हेतु की अनुक्ति में भी यह छः प्रकार का हो जाता है ॥१७६॥

(इस से आगे का ग्रन्थ अनुपलब्ध है। किन्तु वेणीदत्तकृत अलंकार मंजरी में इन्द्रपति के इस ग्रन्थ से ही मूललक्षण लिये गये हैं और यह ग्रन्थ पूर्ण उपलब्ध है तथा प्रकाशित भी है। इस में वेणीदत्त ने अलंकारसमुद्ग के प्रत्येक अलंकार का लक्षण धरोहर के रूप में रखकर स्वयं उदाहरण बना कर प्रस्तुत किया है।

अतः यहाँ इस अलंकारसमुद्ग की पूर्ति के लिए आक्षेपालंकार से अन्त तक अलंकार-मंजरी को परिशिष्ट के रूप में प्रस्तुत कर रहे हैं, जिस में अलंकारों के भेदोपभेद नहीं हैं, केवल मूल कारिकामय लक्षण इन्द्रपति के एवं उदाहरण वेणीदत्त के हैं। यद्यपि वेणीदत्त बहुत स्थलों पर दो या तीन उदाहरण भी प्रस्तुत करते हैं, पर यहाँ केवल एक एक उदाहरण ही दिये जा रहे हैं।)

अलङ्कारसमुद्गः
(परिशिष्टम्)
(वेणीदत्तकृतालङ्कारमञ्जरी आक्षेपालङ्कारतः समाप्ति यावत्)

[अलङ्कारसमुद्गस्य मूलहस्तलेखो दीपकालङ्कारान्त वोएपलब्धः । ततः परं खण्डितोऽयं ग्रन्थः । किन्तु कविवेणीदत्तेन अलङ्कारमञ्जरीग्रन्थेऽलङ्कार-लक्षणश्लोका अलङ्कारसमुद्गादेव संगृह्य स्वयमुदाहरणदानेन कृतार्थत्वमाप्ता इति प्रस्तुत ग्रन्थस्य उपलब्धभागेन तुलनया स्पष्टम् । यद्यपि तत्रापि तत्तद-लङ्काराणां भेदप्रपञ्चो विवरणं वा नास्ति तथापि मूलतोऽलङ्कारलक्षणका-रिकास्तु ततः प्राप्ता भवन्ति । अतएवात्र ग्रन्थपूर्त्तये आक्षेपालङ्कारतः समा-प्तिपर्यन्तो भागो वेणीदत्तकृतालङ्कारमञ्जरीतः समुद्ध्रियते । एताः कारिका-स्तेन न्यासरूपेण रक्षिताः । अत्र तत्तदलङ्काराणामेकैकमुदाहरणं वेणीदत्त-स्यैव प्रस्तूयते ।]

१८ - आक्षेपः

यः प्राकरणिकत्वेन वचनार्हस्य वस्तुनः ।
शब्दगत्या निषेधः स्यात् स आक्षेपः प्रकीर्त्तितः ॥१॥

प्रकरण के उपयुक्त कथ्य (व्यंग्य) वस्तु का जो शब्दतः (न कि अर्थतः) निषेध, उसे आक्षेप अलङ्कार कहते हैं। व्यंग्य विशेष को प्रतिपादित करनें के लिए विवक्षित अर्थ का शब्द के द्वारा निषेध से उस अर्थ की पुष्टि हो जाती है, जिसमे आक्षेप अलंकार बन जाता है।

यथा— नलिनीदलमपि तुलयति सा दहनेन ।
अलमथ सम्प्रति मुरहर ! बहुकथनेन ॥ (१)

वह (वियोगिनी) कमलिनी के पत्ते को भी आग के समान समझती है। हे मुरारि ! अब तो बहुत कहना व्यर्थ ही है। (प्राकरणिक अर्थ 'अत्यधिक

ताप से वह मर रही है, जाकर उसे बचाओ' यह पुष्ट होता है निषेध से ही। शब्दतः निषेध और अर्थतः तो अधिकाधिक वक्तव्य ही व्यक्त हो रहा है।) यहाँ बरवा छन्द है।

१९ – विभावना

विनाऽपि कारणं यत्र कार्योत्पत्तिर्निबध्यते ।
विभावनामलङ्कारं तत्र धीराः प्रचक्षते ॥२॥

विना कारण से ही जहाँ कार्य की उत्पत्ति वर्णित हो, वहाँ विभावना अलङ्कार होता है, ऐसे विद्वानलोग कहते हैं। कार्य से पहले उसका कारण रहना आवश्यक है। लोकप्रसिद्ध कारण न रहने पर भी आन्तरिक कारण व्यंग्यार्थ को रखने हेतु यह अलंकार होता है।

यथा—समुदयते हिमधामा सा वामा तापमाधत्ते ।
विकसति वनकुसुमाली मुरहर ! तालीदलद्युतिं लभते ॥(२)

अत्र कारणं विनैव नायिकायास्तापस्य पाण्डुरोगस्य च कार्यस्योत्पत्तिः ।

चन्द्रमा उग रहा है और वह सुन्दरी ताप को प्राप्त कर रही है। हे मुरारि ! वन के फूल खिल रहे हैं और वह ताली के पत्ते की कान्ति (कालेपन) को प्राप्त कर रही है। विरहावस्था में ऐसी विपरीत दशा हो जाती है। यहाँ ताप का कारण सूर्यकिरण आदि के तथा श्यामद्युति का मलिनवस्तु का प्रकाश आदि के न रहने पर भी कार्य देखा जा रहा है। जो चन्द्रकिरणादि है, उससे तो तापशान्ति ही होनी चाहिए ॥२॥

२० - विशेषोक्तिः

हेतुसत्वेऽपि कार्यस्य यत्रानुत्पत्तिरुच्यते ।
काव्यज्ञैर्मन्यते तत्र विशेषोक्तिरलङ्कृतिः ॥३॥

यथा— तव वदनामृतरश्मावुदिते कस्मात् परो दयिते ।
सम्भवति स्मरदाहो मनसि तदाहो न जानीमः ।। (३)

शैत्यकारणीभूतचन्द्रसद्भावेऽपि शैत्यानुदयाद् विशेषोक्तिः ।

जहाँ हेतु (कारण) रहने पर भी कार्य की उत्पत्ति न हो वहाँ काव्य-वेत्ता लोग विशेषोक्ति अलंकार मानते हैं ।।३।।

जैसे— हे प्रिय ! तेरे मुखरूपी अमृत किरण के उदित होने पर भी मेरे मन में यह काम का अत्यधिक ताप हो रहा है, यह कैसे, सो नहीं जानता हूँ ।। (३)

यहाँ शैत्य के कारण चन्द्र के रहने पर भी शैत्य न होना ही विशेषोक्ति है। वस्तुतः तापनाशक चन्द्र के रहने पर भी ताप का नाश न होना ही विशेषोक्ति अलंकार बनता है।

२१ - यथासंख्यम्

उद्देश्येषु विधेयानां नियतेन क्रमेण यः ।
अन्वयस्तमलङ्कारं यथासङ्ख्यं प्रचक्षते ।।४।।

यथा—

एकस्त्वं नृपते विवेकविदितो रुच्यो रणग्रामणीः
सम्मानं रतिकौशलं प्रहरणप्रागल्भ्यमुल्लासयन् ।
मित्राणां मृगशावसुन्दरदृशां विद्वेषिणां चान्वहं
सौख्यं प्रेमचयं भयं च हृदये संवर्द्धयन् वर्तसे ।। (४)

उद्देश्यों में विधेयों का निश्चित क्रम से अन्वय को यथासंख्य अलंकार कहते हैं। वाक्यान्तर्ग अनेक उद्देश्य का सामान-संख्यक विधेयों के साथ संख्याक्रम से (प्रथम से प्रथम, द्वितीय से द्वितीय इत्यादि) अन्वय ही यथा-संख्य अलंकार है ।।४।।

जैसे – हे राजन् ! तुम अपने विवेक के कारण प्रख्यात, लोकप्रिय एवं संग्राम

में प्रधान होकर सम्मान, रतिकौशल और प्रहार-पटुता वितरित करते हुए मित्रों, मृगनयनियों और विद्वेषियों के हृदय में प्रतिदिन सुख, प्रेम और भय बढ़ाते हुए एकमात्र व्यक्ति विद्यमान हो ॥ (४)

यहाँ उद्देश्य मित्र, मृगशिशु के समान नयनवाली एवं विद्वेषी हैं जिनका सम्मान, रतिकौशल एवं प्रहरणप्रौढ़ता तथा सुख, प्रेम और भय इन विधेयों के साथ क्रमानुसार अन्वय होने से यथासंख्य अलंकार है।

२२ - अर्थान्तरन्यासः

सामान्यस्य पदार्थस्य विशेषेण समर्थनम् ।
प्रथमोऽर्थान्तरन्यासप्रकारः परिकीत्तितः ॥५॥

यथा— सज्जनाः खलु नोज्झन्ति दृष्टानपि समाश्रितान् ।
विषमुद्गिरतो नागांश्चन्दनः किं विमुञ्चति ॥ (५)

प्रकारान्तरं—

विशेषस्य तथाऽर्थस्य सामान्येन समर्थनम् ।
द्वितीयोऽर्थान्तरन्यासप्रकारः समुदीरितः ॥६॥

कारणेन कार्यस्य कार्येण कारणस्य च समर्थनेऽप्यर्थान्तरन्यासः।

यथा— आदावन्ते च तरणेर्बिम्बं स्पर्शसुखप्रदम् ।
उदये प्रलये चापि स्थितिस्तुल्या महीयसाम् ॥ (६)

सामान्य वस्तु का विशेष के द्वारा समर्थन अर्थान्तरन्यास अलंकार का प्रथम भेद होता है। सामान्य व्यापक (अधिक क्षेत्र वाला) एवं विशेष व्याप्य (सामान्य के अन्तर्गत अल्प क्षेत्र वाला) होता है। जैसे – महात्मा यदि सामान्य है तो कोई एक महात्मा (वाल्मीकि, व्यास, सूरदास आदि) विशेष है।

जैसे— सज्जन अपने आश्रित दुष्टों को भी नहीं त्यागते हैं, विष उगलते हुए नागों को भी क्या चन्दनवृक्ष छोड़ता है ?

अर्थान्तरन्यास का द्वितीय भेद –

विशेष अर्थ का सामान्य के द्वारा समर्थन होने पर अर्थान्तरन्यास अलंकार का द्वितीय प्रकार होता है।

इसके अतिरिक्त कारण से कार्य का एवं कार्य से कारण का समर्थन होने पर भी अर्थान्तरन्यास अलंकार होता है।

जैसे— सूर्य का बिम्ब (मण्डल) आदि और अन्त (उदय और अस्त) काल में स्पर्श से सुख देनेवाला होता है। महान् व्यक्तियों की स्थिति उदय (उन्नति) और प्रलय (अवनति) दोनों में समान ही रहती है। (६)

२३ - विरोधाभासः

वस्तुगत्या विरोधस्य विरहेऽपि विरुद्धयोः।
अभिधानमलङ्कारो विरोधाभास इष्यते ॥७॥

जातेर्जातिगुणक्रियाद्रव्यैः सह, गुणस्य गुणक्रियाद्रव्यैः सह, क्रियायाः क्रियाद्रव्याभ्यां सह, द्रव्यस्य च द्रव्येण सह विरुद्धतयाऽऽभासमानतया विरोधाभासस्य दश भेदाः।

यथा— कोमलमपि खलवचनं व्यथयति खलु मानसं सुधियाम्।
निष्ठुरतरमपि लपितं, सतां पुनर्मोदमातनुते ॥ (७)

यथार्थ में विरोध न रहने पर भी दो वस्तुओं में परस्पर विरोध कथन में विरोधाभास अलंकार इष्ट है।

(जातिवाचक शब्द का जाति, गुण, क्रिया और द्रव्य से एवं गुण का गुण, क्रिया और द्रव्य से तथा क्रिया का क्रिया और द्रव्य से एवं द्रव्य का द्रव्य से विरोध के आभास (वस्तुतः अविरोध) प्रतिपादित करने से विरोधाभास अलंकार के दस भेद होते हैं – जाति–४, गुण–३, क्रिया–२ और द्रव्य–१)।

उदाहरण—

दुष्टों के कोमल वचन भी विद्वानों के मन को व्यथित करते हैं, जब कि

सज्जनों के अति निष्ठुर भी वचन आनन्दित ही करते हैं। (कोमल से व्यथित होना एवं निष्ठुर से आनन्दित होना विरुद्ध प्रतीत होता है, पर दुष्टाश्रित होने पर कोमल के भी कठोर हो जाने से वस्तुतः अविरुद्ध ही है)। (७)

२४ - स्वभावोक्तिः

शिशुस्त्रीतिर्यगादीनां स्वक्रियारूपवर्णनम् ।
स्वभावोक्तिमलङ्कारं ब्रुवते काव्यकोविदाः ॥८॥

यथा – एकेन स्तनमेकं, स्पृशति हरिः पाणिना मातुः ।
अपरेण स्तनमपर, धृत्वा मधुरं पयः पिबति ॥ (८)

शिशु, स्त्री, पशु-पक्षी आदि के अपने-अपने स्वाभाविक क्रिया एवं रूप के वर्णन को काव्यशास्त्र-विज्ञ स्वभावोक्ति अलंकार कहते हैं ॥८॥

यथा— श्रीकृष्ण एक हाथ से अपनी माँ के एक स्तन को छूते हैं और दूसरे हाथ से दूसरे स्तन को पकड़ के मधुर दूध पी रहे हैं ॥ (८)

२५ - व्याजस्तुतिः

स्तुतिर्निन्दामुखेनैव निन्दा स्तुतिमुखेन च ।
द्विविधा रसशास्त्रज्ञैर्व्याजस्तुतिरुदीरिता ॥९॥

यथा—

गङ्गे ! भस्मविलेपनं विषवरोभूषाः शिरःस्था जटाः
शार्दूलद्विपचर्म चारु वसनं भालेऽनलीया शिखा !
माला मुण्डमयी, गले च गरलं, त्वं चापि मौलि स्थिता
देवि ! त्वज्जलमज्जने तनुभृतां सद्यः क एष क्रमः ॥(९)

इह निन्दामुखेन गङ्गादेव्याः स्तुतिः प्रतीयते ।

यथा वा – गङ्गाभुजङ्गवरतुङ्गतरङ्गसिन्धो !
किं ते स्तवेन बहुना मणिमण्डितस्य ।
वारां निधेश्च वडवादहनैकबन्धोः
पातुं पयः क्षितितले वत कः समर्थः ।। (१०)

अत्र स्तुतिमुखेन समुद्रस्य निन्दाऽवगम्यते ।

किसी की निन्दा नर्णन से ही उसकी स्तुति (प्रशंसा) तथा स्तुति से निन्दा प्रकट करने को रसशास्त्र (काव्यशास्त्र) वेत्ताओं ने व्याजस्तुति अलंकार कहा है और इसी दृष्टि से इसके दो भेद हैं— (१) निन्दामुखेन स्तुति एवं (२) स्तुतिमुखेन निन्दा ।।६।।

प्रथम भेद का उदाहरण –

हे गङ्गे ! देवि ! यह तेरा कौन सा क्रम है कि जो प्राणी तेरे जल में स्नान करते हैं उनके लिए भस्म चन्दन बन जाता है, विषधर (सर्प) एवं सिर के जटा भूषण हो जाते हैं, बाघ एवं हाथी के चर्म सुन्दर वस्त्र बन जाते हैं, मस्तक पर आग की लपटें रहती हैं, मुण्ड की माला रहती है, गला में विष रहता है और ऊपर से तुम भी माथे पर चढ़ जाती हो ?

यहाँ गङ्गादेवी की निन्दा की गयी है, पर इस से उनकी प्रशंसा ही हो रही है क्योंकि उपर्युक्त स्नान करने वाले और कोई नहीं, वे शिवजी ही है जो गङ्गा में स्नान करने से इतने आनन्दित हुए कि उसे सदा के लिए सर पर ही रख लिया ।। (६)

व्याजस्तुति के दूसरे भेद का उदाहरण—

हे समुद्र ! गङ्गानदी के प्रिय ! श्रेष्ठ उच्च तरङ्गवाले ! मणि से भूषित आप की अधिक स्तुति क्या की जाय ? जलों के निधि एवं वड़वानल (समुद्रीय अग्नि) के एकमात्र बन्धु आपके जल पीने में कौन समर्थ है ? अर्थात् कोई नहीं ।

यहाँ समुद्र की प्रशंसा रहने पर भी निन्दा ही प्रतीत होती है कि आपका जल अपेय है ।

२६ - सहोक्तिः

एकव्यक्त्यन्वितो धर्मं उभयत्रापि गम्यते ।

सहशब्दबलाद्यत्र सहोक्तिः साऽवधार्यते ॥१०॥

यथा— सह कमलकलापैः कोकमामोदयन्तः

सह निविडतमिस्रैरिन्दुकान्तिं हरन्तः ।

सह कुमुदकदम्बैर्वारनारीविषादं

दिशिदिशि कलयन्तो भान्ति भानोर्मयूखाः ॥ (११)

एक व्यक्ति में अन्वित (रहने वाला) धर्म 'सह' शब्द के द्वारा दोनों में (उस व्यक्ति के साथ अन्य में भी) मालूम पड़े तो वहाँ सहोक्ति अलंकार जाना जाता है ॥१०॥

जैसे— कमल-समूह के साथ चकवा (कोक) पक्षी को आनन्दित करते हुए (सूर्योदय होने पर कमल खिलते और कोक का वियोग नष्ट होता है), घने अन्धकार के साथ चन्द्रमा की छवि को दूर करते हुए, कुमुद-पुष्प के साथ वेश्याओं के विषाद को बढ़ाते हुए सूर्य के किरण दिशाओं में फैल रहे हैं ॥ (११)

२७ - विनोक्तिः

अन्यं विना यदाऽन्यस्य स्यादशोभनता तदा ।

विनोक्तिनामालङ्कारं व्याहरन्ति मनीषिणः ॥११॥

अन्यं विनाऽन्यस्य समीचीनत्वेऽप्यपरः प्रकारो विनोक्तेरन्यैरङ्गीकृतः ।

यथा— भक्ति विना मधुरिपोः स्मरणं विदूरं

भक्तिश्च नैव हृदये स्मरणं विनाऽऽस्ते ।

मुक्तिर्विना तदुभयं न ह मर्त्यलोके

मुक्त्या विना न खलु गच्छति मर्त्यताऽपि ॥ (१२)

किसी अन्य वस्तु के विना यदि अन्य वस्तु (एक के विना दूसरा) अशोभन रूप में प्रतीत हो तो उसे विद्वान लोग विनोक्ति अलंकार कहते हैं ॥११॥

अन्य के विना समीचीनता रहने पर भी किसी के मत से विनोक्ति अलंकार होता है।

यथा— श्रीकृष्ण की भक्ति के विना उनका स्मरण दूर ही रहता है और भक्ति भी हृदय में उनके स्मरण के विना नहीं टिकती है। इन दोनों के विना मुक्ति मर्त्यलोक में प्राप्त नहीं होती और मुक्ति के विना मर्त्यता (मृत्युधर्म) भी नहीं हटती है ॥ (१२)

२८ - परिवृत्तिः

यः समैरसमैर्वाऽपि गुणैर्विनिमयो भवेत् ।
परिवृत्तिमलङ्कारं तं काव्यज्ञाः प्रचक्षते ॥१२॥

यथा— दृशं दत्त्वा प्रीतो निशि निशि शशाङ्काय रुचिरां
चकोरः स्वच्छन्दं सुखमसममाप्नोति नियतम् ।
शशाङ्को रामाणां प्रियविरहितानां च सुदृशां
दृशं नीत्वा दत्ते वपुषि बत तापं बहुतरम् ॥ (१३)

सम वा असम गुणों के विनिमय (किसी से लेकर पुनः उसे देना) को परिवृत्ति अलंकार कहते हैं ॥१२॥

यथा -

चकोर पक्षी प्रत्येक रात में चन्द्रमा को सुन्दर आँखें देकर उससे नियतरूप में स्वच्छन्द सुख प्राप्त करता है और चन्द्रमा प्रिय से वियोग को प्राप्त सुन्दरी के आँखों को लेकर उसके शरीर में बहुत ताप देता है ॥ (१३)

२९ - प्रहर्षणः

यत्नं विनैव सिद्धिर्या वाञ्छितार्थस्य जायते ।
प्रहर्षणपदाख्येयां ब्रुवते तामलङ्कृतिम् ॥१३॥

उद्योतकारादिभिस्त्वेष समाधावेवान्तर्भावितः ।

यथा - विद्युच्छटावनघटावृतमन्तरीक्षं
भानुप्रभाविरहि, सम्प्रति केशवोऽयम् ।
नक्तं बिभेति नितरामिति बालमेनं
त्वं प्रापय स्वभवनं वृषभानुकन्ये ।। (१४)

यत्न के विना ही यदि अभीष्ट कार्य की सिद्धि हो जाय तो उसे प्रहर्षण अलकार कहते हैं ।।१३।।

यहाँ कविशेखर बदरीनाथ झा की टिप्पणी है कि इस अलंकार को उद्योतकार नागेश भट्ट आदि ने समाधि अलंकार में गतार्थ कर लिया है।

उदाहरण—

भाण्डीर वन में श्रीनन्दजी राधा को कहते हैं कि वृषभानुपुत्री राधे ! अभी यह आकाश बिजली की छटा से युक्त घनघटा से भरा एव सूर्य की प्रभा से हीन है, इस रात में यह केशव अत्यन्त डरने वाला है। अतः इस बच्चे को तू ही इसके घर पहुँचा दो ।। (१४)

यहाँ राधा-कृष्ण का एकान्त मिलन अनायास हो गया ।

30 – भाविकम्

भूतस्य भाविनो वाऽपि पदार्थस्य तु वर्णनात् ।
यत् प्रत्यक्षायमाणत्वं तद् भाविकमुदीरितम् ।।१४।।

यथा— एणीदृशो लोचनखञ्जनाञ्जनं
लग्नं प्रपश्यामि हरे तवाधरे ।
तदङ्गसङ्गाय च भाविने पुनः
साक्षात्करोम्यच्युत चञ्चलं मनः ।। (१५)

वीते हुए या आने वाले पदार्थ का इस प्रकार वर्णन किया जाय, जिससे वह पदार्थ प्रत्यक्ष विद्यमान मालूम पड़े, तो वहाँ भाविक अलंकार होता है।

हे कृष्ण आप के अधर में मृगनयनी की आँख रूपी खंजन का अंजन लगा देखतो हूँ और उस मृगनयनी के भावी संगम के लिए आपके चञ्चल मन को तो साक्षात् देख ही रही हूँ ॥ (१५)

31 - काव्यलिङ्गम्

वाक्यार्थस्य क्वचित् क्वापि पदार्थस्य विशेषतः ।
यत् कारणस्य कथनं काव्यलिङ्गं तदुच्यते ॥१५॥

यथा— पुरा मुरारे ! तव नाम न स्मृतं
शरीरभाजेत्यवधारितं मया ।
स्मृत्याऽद्य मुक्तेन च न स्मरिष्यते
तदेतदागोयुगलं क्षमस्व मे ॥ (१६)

इह वाक्यार्थस्य हेतुता वर्तते ।

कहीं वाक्यार्थ को तो कहीं पदार्थ (पद के अर्थ) को विशेष रूप से कथ्य के कारण के रूप में कहा जाय, तो वहाँ काव्यलिङ्ग अलङ्कार कहा जाता है ॥१५॥

जैसे हे कृष्ण ! पहले कभी मैंने शरीर धारण कर भी आपके नाम का स्मरण नहीं किया, इसे जब मैंने जाना तो आपका स्मरण किया, जिससे मै मुक्त हो गया (मोक्ष पा लिया)। अब तो आप में मिल जाने से भविष्य में कभी स्मरण नहीं कर सकूँगा, सो इन दो अपराधों को आप क्षमा कर दें।

यहाँ वाक्यार्थ ही अपराध का हेतु है।

३२ - पर्यायोक्तम्

व्यञ्जनागम्य एवार्थो यत्र भङ्ग्याऽभिधीयते ।
काव्यज्ञास्तमलङ्कारं पर्यायोक्तं प्रचक्षते ॥१६॥

यथा— रामकृष्णौ पुरो वीक्ष्य हृदये कंसभूपतेः ।
सह शौर्येग धैर्येण सम्मदोऽवस्थितिं जहौ ।। (१७)

अत्र कंसः शौर्यादिशून्योऽभूदिति व्यज्यते ।

व्यञ्जना से प्राप्त होने वाले अर्थ को ही जहाँ वचन-भङ्गिमा (घुमाकर) वाच्य-द्वारा ही कहा जाय तो वहाँ काव्यप्रसिद्ध "पर्यायोक्त" अलंकार होता है ।।१६।।

उदाहरण —

बलराम और कृष्ण को सामने में देखकर राजा कंस का मद वीरता और धीरता के साथ वहाँ रहना छोड़ दिया ।। (१७)

यहाँ कंस वीरता आदि से शून्य हो गया यह अर्थ व्यंग्य है ।

33 - उदात्तः

उत्कर्षव्यक्तये यत्तु वर्णनीस्य वस्तुनः ।
उदात्तं तद् विशेषेण कथितं काव्यकोविदैः ।।१७।।

यथा— युष्मद्भिक्षुगणद्वारि मदवारिविशोभिताः ।
बृंहितानि वितन्वन्ति करिणो धरणीमणे ! ।। (१८)

वर्णनीय प्रस्तुत वस्तु की उत्कृष्टता व्यक्त करने के लिए जो विशेष रूप से कहा जाय, उसे काव्यशास्त्री लोग "उदात्त" अलंकार कहते है ।।१७।।

उदाहरण हे पृथ्वी के मणि स्वरूप राजन् ! आपके भिक्षुकों के द्वार पर मदजल से शोभित हाथी का झुण्ड गरज रहा है ।। (१८)

यहाँ राजा की उत्कर्ष व्यक्ति हेतु भिक्षुक के धनी होने का वर्णन है ।

३४ - समुच्चयः

एकस्यैव प्रधानस्य कारणस्य यदेतरे ।
कार्योत्पत्तौ सहायाः स्युस्तदा ज्ञेयः समुच्चयः ।।१८।।

गुणयोः क्रिययोर्गुणक्रिययोर्वा यौगपद्येऽस्य प्रकारान्तरम् ।

यथा—

क्रूराः कामशरा मुहुः प्रतिदिशं गर्जन्ति पाथोधराः
केकाः सङ्कुलयन्ति मत्तशिखिनो वर्षासु हर्षाकुलाः ।
कान्तो हन्त विदूर एव, हृदयं दीनं नवीनं वयः
सख्यः सन्ति न सन्निधौ कथमहं प्राणान् विधर्तुं क्षमा ।। (१६)

अत्र दुःखे प्रधानकारणं कामशरः, परे तत्साहाय्यकारिणः ।

जब कार्य होने में एक ही प्रधान कारण के अनेक सहायक रहे तो वहाँ समुच्चय अलंकार जानना चाहिए। अनेक अप्रधान कारण प्रधान कारण के सहायक बनकर कार्य की उत्पत्ति करें तो समुच्चय अलंकार होता है ।।१८।।

दो गुणों, दो क्रियाओं या गुण और क्रिया के एक साथ रहने पर इस अलंकार का अन्य प्रभेद होता है।

उदाहरण—

कोई मुग्धा नायिका व्याकुलता से बोलती है कि अभी मुझ पर कामदेव के क्रूर बाण चढ़ रहे हैं, प्रत्येक दिशा में बार-बार मेघ गरज रहे हैं, इस बरसात में हर्ष भरे मतवाले मयूर केका शब्द कर रहे हैं, हाय ! प्रिय तो बहुत दूर में है, स्वयं हृदय दीन है, अवस्था नवीन है और सखियाँ निकट में नहीं है। ऐसी स्थिति में प्राणों को कैसे धारण कर सकती हूँ ? (१६)

यहाँ दुःख में प्रधान कारण हैं काम के क्रूर शर, अन्य तो उनके सहायक हैं।

३५ - पर्यायः

सम्बन्धः स्यादनेकत्र क्रमेणैकस्य वस्तुनः ।
यस्तं पर्यायनामानमलङ्कारं प्रचक्षते ।।१९।।

यथा —

आसीत् पूर्वमगाधसिन्धुसलिले निस्सृत्य तस्मादरं
शम्भोर्भालतलेऽनलेन वलिते तिष्ठञ्छिरो भूषयन् ।
स्फीतः शीतकरोऽथ विस्तृतनभोमध्ये गतश्चारुतां
सोऽयं सम्प्रति बाधते यदि तदा कस्मै किमाचक्ष्महे ॥ (२०)

अत्रैकस्य शशिनः क्रमेणानेकत्र सम्बन्धः ।

एक ही वस्तु का क्रमशः अनेकों में जो सम्बन्ध, उसे पर्याय अलंकार कहते हैं ॥१९॥

उदाहरण - यह शीतल करने वाला चन्द्रमा पहले अगाध समुद्र के जल में था, उनसे निकल कर शम्भु के अग्नियुक्त माथे पर उनके मस्तक को समुचिय रूप से भूषित करता था, इसके बाद यह परिपूर्ण होकर विशाल आकाश के बीच शोभित होने लगा, पर अब यदि यह विरहिणी को कष्ट पहुँचा रहा है तो किसे क्या कहा जाय ? (२०)

यहाँ एक ही चन्द्र का अनेकों में सम्वन्ध क्रमशः वर्णित है ।

३९ - अनुमानम्

यत्र साध्यस्य संसिद्धिः साधनेन विधीयते ।
अनुमानमलङ्कारं तं वदन्ति विचक्षणाः ॥२०॥

यथा— यत्र किञ्चिदपि लोललोचना
पश्यति स्मरशिलीमुखावली ।
यत्र निष्पतति तद्धि सुभ्रुवो-
मन्मथोऽपि वशतामुपागतः ॥ (२१)

जहाँ साध्य (वर्णनीन) की सिद्धि किसी साधन (हेतु) के द्वारा की जाय, वहाँ विद्वान् लोग अनुमान अलंकार कहते हैं ॥२०॥

जहाँ यह चञ्चल आँखों वाली तथा कामबाण की श्रेणी वाली थोड़े भी देख लेती है वहाँ इस सुन्दर भौंहवाली के वशीभूत कामदेव भी गिरने लगता है ॥ (२१)

३७ – परिकरः

प्रत्याय्यते विशेष्यस्य यत्रोत्कर्षो विशेषणैः ।
अलङ्कारः परिकरः सुधीभिः सोऽभिधीयते ॥२१॥

साभिप्रायानेक-विशेषणसद्भाव एवायमलङ्कारः ।

यथा— यशोनिशाधीशविशोभिताखिल-
क्षमाधराम्भोधिनभोमहीतलः ।
प्रतापसन्तापितवैरिमण्डलो
रराज राजा क्षिति-पाकशासनः ॥ (२२)

अत्रोदाहरणे राज्ञो विशेषणानां साभिप्रायत्वम् ।

जहाँ विशेषणों के द्वारा विशेष्य का उत्कर्ष बताया जाता है वहाँ विद्वान् लोग परिकर अलंकार बताते हैं ॥२१॥

अनेक विशेषणों के साभिप्राय रहने पर ही यह अलंकार होता है ।

उदाहरण—

अपने यश रूपी चन्द्रमा के द्वारा सम्पूर्ण पर्वत, सागर, आकाश और पृथ्वी को शोभित करने वाले, अपने प्रताप से शत्रुओं को सन्तापित करने वाले तथा पृथ्वी के इन्द्र के समान ये राजा शोभित हुए ॥ (२२)

इस उदाहरण में राजा के तीनों विशेषण अभिप्राय हैं ।

३८ - व्याजोक्तिः

व्याजेन गोपनं यत्र कथञ्चिद्व्यक्तवस्तुनः ।
व्याजोक्ति तमलङ्कारं व्याहरन्ति मनीषिणः ॥२२॥

यथा— मध्ये स्थिता गुरुजनस्य विलोक्य कान्तं
स्वेदाम्बुपूरिततनुः सुमुखी बभूव ।

ऊष्मागमस्य महिमाऽतिमहानिदानी-

मित्युक्तवत्यतिमृदुस्मितमाततान ।। (२३)

अत्र नायिकाया व्यक्तस्य सात्त्विकभावस्य गोपनम् ।

जहाँ किसी व्यक्त वस्तु को किसी बहाने छिपा लिया जाय तो उसे विद्वान् लोग व्याजोक्ति अलङ्कार कहते हैं ।।२२।।

यथा गुरुजनों के बीच बैठी हुई सुमुखी नायिका प्रिय को देखकर देह में पसीना के बून्दों से भर गयी और बोली कि अभी गरमी बहुत हो गयी है यह कह कर मन्द-मन्द मुस्काने लगी ।

यहाँ नायिका के व्यक्त सात्त्विक भाव (पति दर्शन से उत्पन्न स्नेहाधिक्य से प्राप्त पसीने) को छिपाया गया है ।। (२३)

३६ - परिसंख्या

यदन्यस्य समानस्य व्यवच्छेदाय जायते ।

कथनं परिसंख्यातामाहुः काव्यविशारदाः ।।२३।।

यथा—

किं ध्येयं सुधियां, मुरारिचरणः, किं कार्यमार्यव्रतं,

किं रम्यं धरणीमणेः, शुचियशः, श्लाघ्या भृश का, दया ।

किं देयं सुजनाय, चारु हृदयं, किं भूषणं योषितां,

लज्जा, किं जनरञ्जनं, सुविनयः, किं चित्रमेतज्जगत् ।। (२४)

इयं प्रश्नपूर्विका परिसंख्या । व्यवच्छेद्यस्य वाच्यत्वे शाब्दी, गम्यत्वे चार्थीयं भवति ।

अप्रश्नपूर्विका यथा—

नारायणपदे प्रेम, नच हेमगृहादिषु ।

चिन्ता परमधर्मेषु, नाधर्मेषु मनीषिणाम् ।। (२५)

किसी अन्य (प्रस्तुत से भिन्न) समान वस्तु के अलग करने (छाँटने) के लिए जो प्रस्तुत कथन उसे ही काव्यज्ञों ने परिसंख्या अलंकार कहा है ॥२३।

जैसे विद्वानों को किसका ध्यान करना चाहिए ? विष्णु के चरण का। क्या करना चाहिए ? आर्यों के नियम । राजा का कौन चीज सुन्दर होता है ? स्वच्छ यश। बार बार प्रशंसनीय क्या है ? दया। सुजन को क्या देना चाहिए ? सुन्दर हृदय। नारियों का भूषण क्या है ? लज्जा। लोगों को आनन्दित करते वाला क्या है ? सुन्दर विनय। आश्चर्य क्या है ? यह संसार ॥ (२४)

यह प्रश्नपूर्विका (पहले प्रश्न रखने वाली) परिसंख्या है। छाँटे जाने-वाला यदि वाच्य हो तो यह शाब्दी एवं गम्य (व्यंग्य) हो तो आर्थी होती है। अप्रश्नपूर्विका (विना प्रश्न वाली) परिसंख्या का उदाहरण—

बुद्धिमानों का प्रेम नारायण के चरण में ही होता है, स्वर्ण गृह आदि में नहीं, चिन्तन परम धर्मो में होता है, अधर्मों में नहीं ॥ (२५)।

४० - अन्योन्यः

यत् परम्परमुत्कर्षकारणत्वं पदार्थयोः ।
तदन्योऽन्यमलङ्कारं ब्रुवते काव्यकोविदाः ॥२४॥

यथा— हरिणा शोभते लक्ष्मीर्लक्ष्म्या च शोभते हरिः ।
जानक्या राजते रामो रामेणापि च जानकी ॥ (२६)

दो पदार्थों में परस्पर (एक दूसरे के) कारण बनने को काव्यवेत्ता गण अन्योन्य अलंकार कहते हैं ॥२४॥

जैसे— हरि से लक्ष्मी शोभित होती है और लक्ष्मी से हरि शोभित होते हैं, (उसी तरह) जानकी से राम एवं राम से जानकी शोभित होती है ॥ (२६)।

४१ - उत्तरम्

अनुपात्तमपि प्रश्नवाक्यं यत्र प्रकल्प्यते ।

उत्तरश्रुतिमात्रेण तदुत्तरमितीष्यते ॥२५॥

यथा - क्रेता विद्रुममुक्तानामहमेव वणिक्पते ।
गृहीत्वा मूल्यमुचितं त्वरितं सम्प्रयच्छ ताः ॥ (२७)

अत्र क्रेतुरुत्तरेण वणिक्प्रश्नस्योन्नयनम् ।

जहाँ विना कहे हुए भी प्रश्नवाक्य उत्तर के सुनने से ही कल्पित हो जाता हो, वहाँ उत्तर अलंकार होता है ॥२५॥

हे वणिक्पति ! मूँगे और मोतियों का खरीददार मैं ही हूँ। अतः उचित मूल्य लेकर झट से ये चीजें हमें दे दो ॥ (२७)

यहाँ खरीददार के उत्तर से ही बनियें के प्रश्न को समझा गया ।

४२ - सूक्ष्मः

अन्यस्मै क्रियते यत्र सूक्ष्मार्थस्य प्रकाशनम् ।
केनचित् स्मारकेणेदं सूक्ष्ममित्यभिधीयते ॥२६॥

यथा— दूरादेव प्रियं ज्ञात्वा रतिलोलुपमानसम् ।
करोति सस्मिता तन्वी लघु लीलाऽब्जमुद्रणम् ॥ (२८)

जहाँ किसी दूसरे व्यक्ति के लिए सूक्ष्म (गुप्त) अर्थ को किसी स्मारक वस्तु या चेष्टा के द्वारा प्रकाशित किया जाय, तो उसे सूक्ष्म अलंकार कहा जाता है ॥२६॥

जैसे – दूर से ही प्रिय को रति के लिए लोलुप जानकर कोमलाङ्गी ने मुस्काकर लीलाकमल को हल्के से सँकुचा दिया ॥ (२८) ।

(यहाँ कमल के संकुचित होने का समय सायंकाल ही रति प्राप्ति का समय संकेतित हो गया ।) ।

४३ - सारः

उत्तरोत्तरमुत्कर्षप्रत्ययो यत्र जायते ।
सर्वालङ्कारसारस्तु सारस्तत्राभिधीयते ॥२७॥

यथा— देशेषु मिथिला श्रेष्ठा तत्र सीरध्वजालयः ।
सतीशिरोमणिस्तत्र सीता रघुपतिप्रिया ।। (२९)

जहाँ आगे-आगे चर्चित वस्तु में अधिक अधिक उत्कर्ष की प्रतीति हो, वहाँ सभी अलंकारों में उत्कृष्ट सार नामक अलंकार होता है ।।२७।।

जैसे— देशों में मिथिला श्रेष्ठ है, वहाँ राजा सीरध्वज जनक के भवन श्रेष्ठ हैं और उस भवन में सतीशिरोमणि रघुपति की प्रिया सीता श्रेष्ठ हैं ।। (२९) ।

४४ - असङ्गतिः

भिन्नदेशगतत्वेन कार्यकारणभूतयोः ।
अर्थयोरभिधाने स्यादसङ्गतिरलङ्कृतिः ।।२८।।

यथा— गरलं मुखे खलानां, सम्मुह्यति सज्जनः सहसा ।
तरुणीहृदि कुचभारो यूनां वत खिद्यते चेतः ।। (३०)

कार्य और कारण स्वरूप अर्थों के भिन्न-भिन्न देश में रहने का कथन जहाँ हो, वहाँ असंगति नामक अलंकार होता है ।।२८।।

जैसे— विष तो दुष्टों के मुख में रहता है, पर सज्जन एकाएक मूर्च्छित होते है और तरुणी के हृदय पर स्तन का भार रहता है, पर हाय ! युवकों का मन वेचैन हो उठता है ।। (३०)

४५ – समाधिः

करणान्तरसत्त्वेऽपि यत्राकस्मिककारणात् ।
स्यात् सौकर्यं तु कार्यस्य समाधिः सोऽभिधीयते ।।२९।।

कारणान्तरापतनं समुच्चये खलेकपोतन्यायेन, इह तु काकतालीयन्यायेनेति भेदः ।

यथा— गिरिजामानभङ्गाय व्याकुलस्य पिनाकिनः ।
रावणेनोपकाराय चालितो रजताचलः ।। (३१)

प्रस्तुत कार्य के कारण रहने पर भी आकस्मिक रूप से किसी दूसरे कारण के आ जाने पर उस कार्य के होने में जो आसानी हो जाती है, उसे ही समाधि अलंकार कहते हैं ।।२६।।

कारणों के संग्रह स्वरूप समाधि अलंकार में दूसरा कारण काकतालीय न्याय (आकस्मिक रूप) से आता है जब कि समुच्चय अलंकार में खलेकपोतन्याय (साथ-साथ अनेकों का उपस्थित होने) से ही । कोई कौआ ताल पेड़ के नीचे बैठा था, अचानक उसके सिर पर ताल का फल गिर गया और वह मर गया— यह है काकतालीय न्याय । सभी कपोत एक ही साथ खलिहान में उतरते हैं— यह हुआ खलेकपोत न्याय ।

समाधि अलंकार का उदाहरण— गिरिजा के मान भंग के लिए व्याकुल पिनाकी (शिव) के उपकार के लिए रावण ने चान्दी के पर्वत (कैलास) को हिला दिया ।। (३१)

४९ - समः

वस्तुनोस्तुल्यगुणयोर्योगस्यौचित्यचर्चया ।
प्रशंसनं विशेषेण समाख्याऽलङ्कृतिर्मता ।।३०।

द्वयोरुत्कृष्टयोरपकृष्टयोरेव वा योगस्य प्रशंसायां समम् ।

यथा—

लावण्यातिशयेन निर्मितिकृतो धातुः परं कौशलं
सीता यद्रचिता क्षितौ मृगदृशां सौन्दर्यदर्पापहा ।
पुंसां रूपमिदं च यद् दर्शयितुं रामोऽभिरामः कृतः
ख्यातं सम्प्रति सङ्गमे तदनयोर्वैदग्ध्यमस्याधिकम् ।। (३२)

तुल्य गुणों वाले दो वस्तुओं के मिलन की औचित्य-चर्चा से विशेष रूप से प्रशंसा को सम अलंकार कहते हैं ॥३०॥

दोनों उत्कृष्टों या दोनों अपकृष्टों के योग की प्रशंसा में सम अलंकार होता है।

यथा— सौन्दर्य की अधिकता से निर्माण करने वाले विधाता की परम कुशलता तो यही हुई कि उसने इस पृथ्वी पर मृगनयनियों के सौन्दर्य के अभिमान को नष्ट करने वाली सीता की रचना की और पुरुषों के रूपमद को चूर करने के लिए इस सुन्दर रामचन्द्र को वनाया, सो अभी इन दोनों के मिलाने से उस विधाता की अतिशय चतुरता विख्यात हो गयी ॥ (३२)।

४७ - विषमः

नोपैति घटनां यत्र द्वयोः सम्बन्धिवस्तुनोः ।
योगो विलक्षणतया विषमालङ्कृतिस्तु सा ॥३१॥

यथा— इयमलौकिककोमलताश्रिता
कृशतनुः क्व मनोज्ञतमा लता ।
क्व च कठोरकुठारनिपातनं
किमनयोरुचितः सखि ! सङ्गमः ॥ (३३)

प्रकारान्तरं लक्षयति—

जनकस्य गुणाद्यत्र विजातीयो भवेद्गुणः ।
अन्यस्य तत्र विषमो द्वितीयः परिकीर्त्तितः ॥३२॥

अत्र गुणपदाभ्यां क्रियाप्युपलक्ष्यते ।

यथा—

युष्मत्पाणिभुजङ्गसङ्गमसमं सङ्ग्रामभीष्माङ्गणे
सम्प्राप्यासिभुजङ्गिकाऽसिततनुर्गर्भं दधौ याऽचिरात् ।

प्रासूताम्बरमण्डले शुचियशःपिण्डाण्डमेषा पुरा

भूमीपाल ! तदेव सम्प्रति शशी विष्वक् समुज्जृम्भते ।।(३४)

जहाँ दो सम्बन्धी वस्तुओं का योग (मिलाना) विलक्षण (यथोचित) रूप से घड़ना (समन्वय) को नहीं प्राप्त हो तो वहाँ विषम नाम का अलंकार होता है। (दोनों में अन्वय तो हो, पर दोनों के वैधर्म्य के कारण यह अन्वय समुचित मालूम न पड़े।) ।।३१।।

जैसे— कहाँ यह अलौकिक कोमलता से युक्त दुब्रली सुन्दरतम लता और कहाँ वह कठोर कुठार (कुल्हाड़ी) का चोट ? हे सखि ! क्या इन दोनों का संगम उचित है ? ।। (३३)

विषम अलंकार के दूसरे भेद को लक्षित करते हैं -

जहाँ जनक (कारण) के गुण विजातोय (विरुद्ध) गुणजन्य (उत्पाद्य, कार्य) में हो तो वहाँ विषम अलंकार का दूसरा प्रभेद होता है ।।३२।।

यहाँ गुण पद से क्रिया का भी उपलक्षण होता है। अर्थात् जनक की क्रिया से जन्य में विरुद्ध क्रिया रहने पर भी यह अलंकार होता है।

जैसे -- हे राजन् ! युद्धस्थल के भनानक प्राङ्गण में आपके हाथ रूपी भुजङ्ग (सर्प) का असमान संगम पाकर इस तलवार रूपिणी काली भुजङ्गी ने जो यह झट से गर्भ धारण कर लिया, उसी ने आकाश मण्डल में स्वच्छ यशःपिण्ड को जन्म दिया था, जो अभी भी चन्द्रमा के रूप में चारों ओर चमक रहा है ।। (३४) ।

४८ - विचित्रम्

इष्टकार्यविरुद्धा चेत् कृतिरिष्टस्य कारणम् ।

विचित्रनामाऽलङ्कारः कृतिभिस्तर्हि कीर्त्यते ।।३३।।

उद्योतकारेण तु अयं विषमालङ्कारेऽन्तर्भावितः ।

यथा— अपमानं स्वमानाय जीवनाय रणे मृतिम् ।

अङ्गीकरोति सानन्दं को मूढः किङ्करात् परः ।। (३५)

यदि इष्ट कार्य के विरुद्ध क्रिया ही इष्ट कार्य का कारण हो तो उसे विद्वानों ने विचित्र नामक अलंकार कहा है ।।३३।।

उद्योतकार नागेश भट्ट ने तो इस अलंकार को स्वतन्त्र न मानकर विषम अलंकार के अन्तर्गत ही रखा है।

यथा— अपने मान की प्राप्ति के लिए अपमान को एवं जीवन के लिए रण में मृत्यु को जो आनन्दपूर्वक स्वीकार करता है, वह नौकर से भिन्न कौन मूर्ख होगा ? (३५)

४६ - अधिकम्

यदाधारमहत्त्वार्थमाधेयाधिक्यकीर्त्तनम् ।
अधिकं तमलङ्कारं प्रथमं परिचक्षते ।।३४।।

यथा— धराधरास्तुङ्गतरङ्गवत्यो-
नद्यो नदा भूमिरुहाः समुद्राः ।
लीला यदङ्के कलयन्ति सेयं
प्रसूनवद् भूर्भुजगेन्द्रमौलौ ।। (३६)

प्रकारान्तरं लक्षयति—

यदाधेयमहत्त्वार्थमाधाराधिक्यकीर्त्तनम् ।
अधिकाख्यमलङ्कारं द्वितीयं तं विदुर्बुधाः ।।३५।।

यथा— विरञ्चिर्वैकुण्ठो धनपतिरनन्तः शतमखः
प्रचेताः शीतांशुर्मरुदहिमधामा हुतवहः ।
कृतान्तश्च प्रेम्णा परिचरति यां पुण्यजननी-
मनङ्गारिर्गङ्गां वहति शिरसा तामनुपलम् ।। (३७)

जो आधार के महत्त्व को सिद्ध करने के लिए आधेय (उस आधार पर आश्रित) की अधिकता कही जाय, उसे अधिक नामक अलंकार का प्रथम प्रकार कहा जाता है ।।३४।।

जैसे— पर्वत, उच्च तरङ्गयुक्त नदियां, नद, वृक्ष, समुद्र आदि जिसकी गोद में लीला कर रहे हैं, वही यह पृथ्वी है, जो सर्पराज शेषनाग के मस्तक पर फूल की तरह विराजती है ।। (३६) ।

अधिक अलंकार का दूसरा प्रकार—

जब आधेय (आश्रित) के महत्त्व दिखाने हेतु आधार का महत्त्व कहा जाय तो अधिक अलंकार का दूसरा भेद होता है ।।३५।।

जैसे— जिस पुण्यजननी गङ्गा को ब्रह्मा, विष्णु, कुबेर, अनन्त नाग, इन्द्र, वरुण, चन्द्रमा, वायु, सूर्य, अग्नि और यम आदि देवगण प्रेम से पूजते हैं, उसे ही शिवजी माथे पर सतत धारण करते हैं ।। (३७) ।

५० – प्रत्यनीकम्

प्रतिपक्षोत्कर्षफला प्रतिपक्षाश्रितस्य या ।
तिरस्क्रिया, प्रत्यनीकं भाषन्ते काव्यकोविदाः ।।३६।।

यथा— भवद्यशोभिः सततं सितीकृते
नभःस्थले प्राप्तपराभवः प्रभो ।
भवद्द्विषां स्वर्गजुषां मृगीदृशः
प्रसह्य सन्तापयति क्षपापतिः ।। (३८)

अत्र त्वया पराभूतस्त्वयि प्रतिकर्तुमक्षमश्चन्द्रस्त्वदीयाः सन्तापयतीति बोध्यते ।

एक प्रतिपक्षी (विरोधी) के आश्रित के तिरस्कार से यदि दूसरे प्रतिपक्षी का उत्कर्ष फलित हो, तो उसे काव्यज्ञ लोग प्रत्यनीक अलंकार कहते हैं ।।३६।।

यथा— हे प्रभो ! आपके यश से आकाश को सतत उजले बनाये जाने पर पराभव को पाकर रजनीपति चन्द्रमा आपके स्वर्गत शत्रुओं के मृगनयनियों को बलात् सन्तापित कर रहे हैं ।।३८।।

यहाँ आप से परास्त होकर, उसके प्रतिकार में अक्षम चन्द्रमा आप की (शत्रुपत्नी) को सता रहे हैं ऐसा समझाया गया है ।

५१ - मीलितम्

निगूहनं पदार्थस्य समानेनैव लक्ष्मणा ।
यत् पदार्थान्तरेणैतन्मीलितं कथितं बुधैः ॥२७॥

यथा— नीत्वा करेण विपुलं नवनीतगोलं
कृष्णः पलाय्य यमुनासलिलेऽवतस्थे ।
तत्रागताऽपि कुपिता त्वरितं यशोदा
पूरात् पृथङ्न तनयं प्रबभूव बोद्धुम् ॥ (३९)

पूरो-जलौघः ।

किसी पदार्थ को समान लक्षणवाले अन्य पदार्थ के द्वारा छिपाकर रखा जाय तो उसे विद्वानों ने मीलित अलंकार कहा है ॥३७॥

कृष्ण हाथ से मक्खन का गोला लेकर भाग कर यमुना जल में रुक गये। इस पर बिगड़ी हुई यशोदा झट से वहाँ आकर भी अपने पुत्र को यमुना जल राशि से अलग नहीं समझ सकी, क्योंकि कृष्ण और यमुना दोनों का रंग काला ही है॥ (३९)।

५२ – एकावली

विशेषणतया पूर्वं पूर्वं प्रति परं परम् ॥
स्थाप्यते चेत् तदा प्राज्ञैः प्रथमैकावलीरिता ॥३८॥

यथा— मधौ प्रमोदाय रतार्थिनां निशा
निशाः शशाङ्कस्य कलाभिरुज्ज्वलाः ।
कलाः शशाङ्कस्य कलङ्कवर्जिता
मनोभवस्यैकसहायतामिताः ॥ (४०)

प्रकारान्तरं लक्षयति—

पूर्वपूर्वपदार्थेषु विशेषणतया यदि ।
व्यपोह्यन्ते परपरे द्वितीयैकावली तदा ॥३९॥

यथा – न तत् पुरं यत्र न सन्ति सज्जना-
न सज्जना यत्र न वैष्णवी कथा ।
कथा न सा यत्र रतिर्न चेतसो
रतिर्न सा या न विमुक्तिदायिनी ॥ (४१)

पूर्व-पूर्व पदार्थ के प्रति यदि आगे आगे वाला पदार्थ विशेषण रूप से उपस्थापित हो तो वहाँ एकावली अलंकार का प्रथम प्रकार होता है ॥३८॥

यथा— चैत मास में कामियों के प्रमोद हेतु रातें होती हैं। रातें चन्द्रमा की कलाओं से उज्ज्वल है, कलाएँ चन्द्रकलङ्क से मुक्त हैं और ये सभी कामदेव के ही सहायक हो रहे हैं ॥ (४०)

एकावली के दूसरे प्रभेद का लक्षण करते हैं -

यदि पूर्व-पूर्व पदार्थों में उत्तरोत्तर पदार्थ की विशेषणता को निराकृत (निषिद्ध) किया जाय तो वहाँ एकावली अलंकार का द्वितीय प्रकार होता है ॥३९॥

जैसे— वहाँ ऐसा नगर नहीं है, जहाँ सज्जन न हो, ऐसे सज्जन नहीं जिनके मुख में विष्णु की कथा न हो, ऐसी कथा नहीं जिस में चित्त की रति न हो और ऐसी रति नहीं जो मुक्तिदायिनी न हो ॥ (४१)

५३ - स्मृतिः

समानदर्शनोद्बुद्धसंस्कारजनिता स्मृतिः ।
अनुभूतपदार्थस्य स्मृत्यलङ्कार उच्यते ॥४०॥

यथा— कलाभिरापूरितमिन्दुमण्डलं
मनोहरं कालकलङ्कभासितम् ।

समीक्ष्य लोलेक्षणमञ्जनाञ्चितं
स्मराम्यहं लक्ष्मण ! मैथिलीमुखम् ।। (४२)

समान पदार्थ के देखने पर उससे जागृत संस्कार के द्वारा यदि पूर्वानुभूत पदार्थ का स्मरण हो जाय तो वहाँ स्मृत्यलङ्कार होता है ।।४०।।

जैसे— कलाओं से परिपूर्ण काले कलङ्क से शोभित सुन्दर चन्द्रमण्डल को देखकर हे लक्ष्मण ! अञ्जन से शोभित चञ्चल आँख वाली मैथिली के मुख का स्मरण कर रहा हूँ ।। (४२)

५४ - भ्रान्तिमान्

अप्राकाणिकत्वेन स्यात् प्राकरणिकस्य यत् ।
संवेदनं भ्रान्तिमान् स नाम्नाऽलङ्कार इष्यते ।।४१।।

यथा— प्रवालरुचिरे पाणौ मुक्ताः कोकनदत्विषः ।
निरस्यति सरोजाक्षी मुग्धा गुञ्जाधिया बहिः ।। (४३)

जब प्राकरणिक (प्रस्तुत) की प्रतीति अप्राकरणिक के रूप में हो तो वहाँ भ्रान्तिमान् अलंकार होता है ।।४१।।

जैसे मूँगा के समान सुन्दर हाथ में कोकनद के समान चमकते हुए मोती को कमलनयनी बाला गुञ्जा (करजनी) समझकर बाहर फेंक रही है ।।(४३)

५५ - प्रतीपः

आक्षेप उपमानस्य प्रतीपः प्रथमो मतः ।
द्वितीयस्तु तिरस्कारफला तस्योपमेयता ।।४२।।
वैयर्थ्यमुपमानस्य किमर्थमिदमेष यः ।
आक्षेपः स तृतीयोऽपि प्रकारस्तस्य कीर्त्तितः ।।४३।।

यथा—लावण्यैकतरङ्गिणीं सुवदनां वाचा पिकद्वेषिणीं
चञ्चल्लोचनशालिनीं च भवतीं सृष्ट्वा विधात्रा पुनः ।
किं विद्युल्लतिका कृता, विरचितः किं वाऽङ्कशाली विधुः,
किं पीयूषरसः कृतोऽनिलचलं किं निर्मितं पङ्कजम् ।। (४४)

जहाँ उपमेय के द्वारा उपमान का आक्षेप हो वहाँ प्रतीप अलंकार का प्रथम भेद होता है। दूसरा प्रतीप वह है जहाँ उसकी उपमेयता को ही व्यर्थ बताया जाय ।।४२।।

उपमान को व्यर्थ सिद्ध करते हुए यह कहा जाय कि 'इसे क्यों बनाया गया' इस प्रकार का आक्षेप प्रतीप का तीसरा प्रकार है। (उपमान को उपमेय एवं उपमेय को उपमान बनाने पर प्रतीप होता है।) ।।४३।।

जैसे— सौन्दर्य की एकमात्र नदो, सुमुखी, वाणो से कोकिल से द्वेष करनेवालो तथा फुदकती आँखों वाली तेरी रचना कर विधाता ने विद्युल्लता की रचना क्यों की या कलङ्की चन्द्र को, अमृत रस को तथा वायु से कम्पित होने वाले कमल को क्यों बनाया ? (४४)।

५६ – सामान्यम्

गुणसाम्यप्रभावेण यदैकात्म्यावभासनम् ।
द्वयोः पदार्थयोरेतत् सामान्यं परिकीर्त्तितम् ।।४४।।

यथा— नीलवासोवृता तन्वा कस्तूरीपङ्कचर्चिता ।
तमिस्रासु च घोरासु सुखं यात्यभिसारिका ।। (४५)

जहाँ दो पदार्थों में गुण की समानता के प्रभाव से एकत्व होना जान पड़े वहाँ सामान्य अलंकार होता है ।।४४।।

जैसे – नीले वस्त्र से ढँकी तथा कस्तूरी के लेप से शोभित कोमलाङ्गी अभिसारिका गहन रात में सुखपूर्वक जा रही है। (वस्त्र एवं कस्तूरी में स्थित कालागुण, रात में भी रहने से दोनों को एक वना दिया।) (४५)

५७ - विशेषः

विना प्रसिद्धमाधारं याऽऽधेयस्य व्यवस्थितिः ।
विशेषनामाऽलङ्कारः प्रथमः स प्रकीर्त्तितः ॥४५॥
एकस्य युगपद् वृत्तिरनेकविषया पुनः ।
एकरूपतया सोऽयं द्वितीयः समुदाहृतः ॥४६॥
कार्यान्तरं विदधतः कार्यस्यान्यस्य वस्तुनः ।
यद् विधानमशक्यस्य स विशेषस्तृतीयकः ॥४७॥

यथा - तव कीर्तिलता देव ! व्योम्नि विस्तारमागता ।
तारकाः कलिकास्तस्याः कुसुमं विधुमण्डलम् ॥ (४६)

यथा वा —त्वमेव वससि स्वान्ते कान्ते ! बहिरपि स्फुटम् ।
कुसुमेषोः प्रभावेण त्वन्मयं जगदेव मे ॥ (४७)

यथा वा भवतीं सृजता बाले ! सृष्टा किं नैव वेधसा ।
लावण्यवापिका काऽपि चन्द्रेन्दीवरशालिनी ॥ (४८)

प्रसिद्ध आधार के विना ही जो आधेय (आश्रित) की स्थिति वर्णित की जाय तो वह 'विशेष' नामक अलंकार का प्रथम भेद कहा जाता है ॥४५॥

एक ही वस्तु जहाँ अनेक विषयों में एक रूप से ही विद्यमान हो, वहाँ इस अलंकार का दूसरा प्रभेद होता है ॥४६॥

किसी एक काम को सम्पादित करते हुए यदि किसी दूसरे असम्भव काम का भी सम्पादन हो जाय तो इस अलंकार का तीसरा प्रभेद होता है ॥४७॥

जैसे–(१) रे राजन् ! आपकी कीर्त्तिलता आकाश में फैल गयी, तारे उसकी कलियाँ और चन्द्रमण्डल फूल निकले ॥ (४६)

(२) हे कान्ते ! तू हो मेरे हृदय में और बाहर में भी निवास करती हो । कामदेव के प्रभाव से मेरा सारा संसार ही तुम से व्याप्त है ॥ (४७)

(३) हे बाले ! तुम्हें बनाते हुए विधाता ने क्या नहीं बनाया ? जैसे

चन्द्र एवं नीलकमल से युक्त एक सौन्दर्य की बावली ही बना ली ॥

५८ - तद्गुणः

स्वगुणं यत् परित्यज्य पदार्थः प्रतिपद्यते ।
अत्युत्कृष्टं परगुणं तदगुणः स प्रकीर्त्तितः ॥४८॥

यथा— ओष्ठविद्रुमकान्त्या मे दन्ता माणिक्यभासिताः ।
कान्ते ! श्वेतस्मितेनाशु पुनस्ते धवलीकृताः ॥ (४९)

जब कोई पदार्थ अपने गुण को छोड़कर किसी दूसरे के अति उत्कृष्ट गुण को प्राप्त करे तो तद्गुण अलंकार होता है ॥४८॥

जैसे— हे कान्ते ! मूंगा के समान तेरे होंठ की कान्ति से मेरे दाँत माणिक्य के समान दीखने लगे, फिर तेरे स्वच्छ मुस्कान से वे उजले हो गये ॥ (४९)

५९ - अतद्गुणः

अप्रस्तुतो न्यूनगुणः प्रस्तुतस्य गुणं यदा ।
उत्कृष्टमपि नादत्ते तदैव स्यादतद्गुणः ॥४९॥
सामान्य-विशेषभावाद् विशेषोक्तेरस्य भेदः ।

यथा— सरागे हृदये तस्याः सदा सुन्दर ! तिष्ठसि ।
मनागपि न रक्तोऽसि किमिदं चरितं तव ॥ (५०)

प्रकारान्तरं लक्षयति—

अप्रस्तुतं वस्तुरूपं यदा प्रस्तुतवस्तुना ।
नादीयतेऽचलत्वेन तदान्यः स्यादतद्गुणः ॥५०॥

यथा— गङ्गाजलेन धौतस्य यमुनासलिलेन वा ।
शङ्खस्य शुक्लता सैव वर्धते ह्रसते न वा ॥ (५१)

जब न्यून गुण वाला अप्रस्तुत (मुख्य वर्णनीय के साथ वर्णित होने वाला) प्रस्तुत के उत्कृष्ट गुण का भी ग्रहण न करे, तो अतद्गुण अलंकार होता है। (विशेषोक्ति अलंकार से यही भेद है कि इस में सामान्य-विशेषभाव रहता है। अर्थात् ऐसा रहने पर सामान्यतः सभी वस्तु ग्रहण करते ही हैं, परन्तु यह विशेषतः इसका अपवाद है यही सामान्य-विशेषभाव है) ॥४९॥

यथा— हे सुन्दर ! तुम उस नायिका के सराग (अनुरक्त) हृदय में सदा रहते हो पर थोड़ा सा भी रक्त (लाल) नहीं हो, सो यह तुम्हारा कैसा चरित है ? (५०).

अतद्गुण के दूसरे प्रकार का लक्षण करते हैं—

जब अप्रस्तुत के रूप को प्रस्तुत वस्तु अपनी अपरिवर्त्तनीयता के कारण ग्रहण नहीं करता है तो वहाँ अतद्गुण अलंकार का दूसरा प्रकार होता है ॥५०।

जैसे— गङ्गाजल या यमुनाजल से धोने पर भी शंख की शुक्लता न घटती है और न बढ़ती है ॥ (५१)।

६० - व्याघातः

एकेन साधितं वस्तु साधयेच्चेत् परोऽन्यथा ।
उपायेन तु तेनैव व्याघातस्तर्हि कथ्यते ॥५१॥

यथा - करस्पर्शेन नलिनीं सायं विधुरजिग्लपत् ।
आजिह्लदद् रविः प्रातः करस्पर्शेन तां पुनः ॥ (५२)

जब किसी के द्वारा एक उपाय से साधित वस्तु को दूसरा व्यक्ति उसी उपाय से उसे दूसरी तरह ही सिद्ध करे तो वहाँ व्याघात अलंकार कहा जाता है ॥५१॥

जैसे— चन्द्रमा ने शाम को अपने करस्पर्श से कमलिनी को दुःखित कर दिया, फिर प्रातःकाल में सूर्य ने अपने करस्पर्श से उसे आनन्दित कर दिया ॥ (५२)।

६१ - संसृष्टिः

चमत्कारप्रसूरेककाव्येऽलङ्कारयोर्मिथः ।
स्थितिर्या नैरपेक्ष्येण सा संसृष्टिरिहोच्यते ।।५२।।

यथा – मृतावासो वासो विषमशनमाशा हि वसनं
शिरोजालं माला सततमपि बाला तनुधरा ।
शिवस्येयं जाता जगति यदि हा तात कुदशा
तदन्यः को गण्यः स्थितवति विधौ मूर्ध्नि कुटिले ।। (५३)

अत्र हि छेकानुप्रास-पदश्लेषयोर्नैरपेक्ष्येण स्थितिः ।

जब एक ही काव्य (पद्य या अनुच्छेद) में परस्पर निरपेक्ष रूप से स्थित दो अलंकारों की स्थिति चमत्कार उत्पन्न करे तो वह संसृष्टि अलंकार कहलाता है। इस में तिल - तण्डुल के समान अलंकारों के मिलन होने के कारण प्रत्येक अलंकार पृथक् नजर आते हैं ।।५२।।

उदाहरण - मृतों के आवास श्मशान ही वासस्थान है, विष भोजन है, दिशा ही वस्त्र है, मस्तक-समूह ही माला है, नवीन वधू हमेंशा देह को पकड़ी हुई है, हाय ! कुटिल (वक्र) विधु (चन्द्र) के मस्तक पर रहने पर जगत में शिवजी की भी यह कुदशा हो गयी तो उनसे भिन्न और किसकी गणणा की जाय जो विधि (भाग्य) के कुटिल रूप में मस्तक पर रहने के बावजूद कुदशा में न पड़े ? (५३) ।

यहाँ छेकानुप्रास और पदश्लेष का निरपेक्ष-रूप से स्थिति है। विधि एवं विधु दोनों शब्दों के सप्तमी के एकवचन में 'विधौ' यही रूप होता है।

६२ - संकरः

अङ्गाङ्गिभावे सन्देहे तथैकाश्रयवेशने ।
सापेक्षतोऽलङ्कृतीनां सङ्करस्त्रिविधः स्मृतः ।।५३।।

यथा – लावण्यामृतजलधौ मुखशशिनो मज्जतः सुदृशः ।
वेणी धौतकलङ्कश्रेणीत्यवधारितं विदुषा ।। (५४)

अत्र रूपकोत्प्रेक्षयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः ।। इति ।।

जहाँ अलंकारों का परस्पर सापेक्षरूप से स्थिति हो वह सङ्कर अलंकार कहलाता है। यह सापेक्षता तीन प्रकार से होती है, अङ्गाङ्गिभाव से (एक अलङ्कार प्रधान एवं दूसरा उसका पोषक), एकत्र अनेक अलंकारों के होने के सन्देह से तथा उनके एक आश्रय (वाचक शब्द) पर रहने के कारण। (यह संकर दुग्ध-जलवत् मिलित रहने के कारण मिलित रूप से ही अलंकारों को रखता है। अर्थात् एकत्र रहने पर भी पृथक् नहीं दीख पड़ते हैं ।।५३।।

उदाहरण - सुनयनी के सौन्दर्य रूपी अमृत सागर में नहाते हुए मुखचन्द्र से धोकर हटायी गयी कलंक पंक्ति ही यह उसकी वेणी है— ऐसा विद्वानों ने स्थिर किया है ।। (५४)।

यहाँ रूपक और उत्प्रेक्षा के अङ्गाङ्गिभाव से संकर अलंकार है। वेणी में धौतकलंक श्रेणी की संभावना ही उत्प्रेक्षा है, उसमें अमृतजलधौ एवं मुखशशिनः पदों से प्राप्त रूपक अङ्ग बन गये हैं ।। इति ।।

परिशिष्ट - २

अलंकारसमुद्ग में चर्चित ग्रन्थ एवं ग्रन्थकार

क्र०सं०	नाम	कारिका संख्या		पृष्ठ
१.	नन्दोपति	१	–	१
२.	बादरि कवि (नन्दीपति)	१,६७ १४८	–	१,३६,१०७
३.	भाषा कवि (नन्दीपति)	१	–	१
४.	मिथिलाधिप विष्णु सिंह	१	–	१
५.	अलंकार सर्वस्व	३५	–	२८
६.	भट्टपाद (मम्मटभट्ट)	११,४४,१४८	–	६,३०,१०७
७.	रसविद्याविशारदा:	६७	–	३६
८.	पौराणिक	१४४ (विवरण)	–	१०२
९.	अस्मत्पितामहभ्रातृचरणाः (हरिहरोपाध्यायाः)	८ (उदाहरण), ३३ (उदाहरण) ।	–	६,२२
१०.	रसविद्याविदः केचित्	११,६७	–	६,३६
११.	वामन	१२	–	७

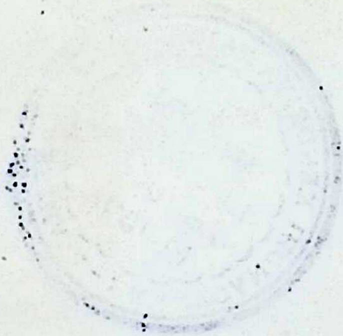

Rajiv Gandhi Kendriya Sanskrit Vidyapeetha
Sringeri. Acc No. m-1574
Class No.____ Book No.____
Author डॉ० प्रमोद झा
Title अलङ्कारसमुद्धारः